गंगा-पुस्तकमाला का तीसवाँ पुष्प

मनोविज्ञान

चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी०

मनोविज्ञान

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(माधुरी-संपादक)

चुनी हुई वैज्ञानिक पुस्तकें

आकाश की बातें	ı)	आलू	ı)
ज्योतिर्विज्ञान	२॥)	केला	‑)
धर्मविज्ञान	१)	तेल की पुस्तक	१)
भौतिक विज्ञान	१)	रंग की पुस्तक	१)
सूर्य-सिद्धांत	१ı)	वायुयान	≶)
विजली	॥)	वैज्ञानिक जीवनी	१)
ताप	ı≈)	हमारे शरीर की कथा	=)॥
चुंबक	ı≈)	रसायन-शास्त्र	॥≈), २॥)

हमारे यहाँ से हिंदुस्थान-भर की सभी प्रकार और सभी विषयों की हिंदी-पुस्तकें मँगाइए। हिंदुस्थान में हमारी ही हिंदी-पुस्तकों की सबसे बड़ी दूकान है।

पत्र-व्यवहार का पता—

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ

गंगा-पुस्तकमाला का तीसवाँ पुष्प

मनोविज्ञान

लेखक

चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी०

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १।)] सं० १९८१ वि० [सादी ।॥)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस
लखनऊ

भूमिका

अध्यापक बच्चों को शिक्षा देता है। शिक्षा क्या है? बच्चों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास और उन्हें संसार में अपना जीवन सफल करने की युक्ति। शारीरिक शक्तियाँ भी मानसिक शक्तियों ही पर अवलंबित हैं। इसलिये उत्तम शिक्षा में बच्चों की मानसिक वृत्तियों का जानना अनिवार्य है। इस ज्ञान के उपार्जन के लिये तीन साधन हैं—(१) अपने बचपन का स्मरण, (२) बाल-निरीक्षण, और (३) मनोविज्ञान की पुस्तकें। इन तीन में से पहला साधन सबसे उत्तम होने पर भी कठिन है; बचपन का स्मरण लोगों को बहुत अल्प मात्रा में रहता है। दूसरा साधन भी सब अध्यापकों के लिये सुगम नहीं; बाल-निरीक्षण में भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, केवल तीसरा साधन सबसे सरल है, यद्यपि वह सबसे उत्तम नहीं है।

अँगरेज़ी में मनोविज्ञान की और विशेषतः बाल-मनोविज्ञान की पुस्तकें बहुत हैं, जिनमें मन-संबंधी हरएक बात पर बहुत विचार किया गया है। परंतु इनसे हमारे हिंदी जाननेवाले अध्यापकों को क्या लाभ? अपने काम में रुचि रखते हुए भी जब उन्हें पढ़ने की सामग्री नहीं मिलती, तो वे विवश हैं। दो-चार बातें जो इधर-उधर पुस्तकों में फुटकर मिल जाती हैं, वे इतनी असंबद्ध होती हैं कि अध्यापकों को उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

इस कमी को पूर्ण करने के लिये मैंने यह पुस्तक लिखने का साहस किया है। पुस्तक अच्छी है या बुरी, इससे अध्यापकों को

कोई लाभ पहुँचेगा या नहीं, इसका निर्णय तो पाठकवृंद कर सकता है। मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि इस पुस्तक के लिखने में मैंने बड़ा परिश्रम किया है, और मुझे कई तरह की कठिनाइयाँ पड़ी हैं। जो दोष अभी तक इसमें वर्तमान हैं, उनका भी ज्ञान मुझको है, परंतु पहले ही उद्योग में उन सब दोषों का निकालना मेरी शक्ति से बाहर है।

अब मैं इस पुस्तक के लक्षणों, कठिनाइयों और दोषों का उल्लेख करता हूँ :—

(१) इस पुस्तक में मनोविज्ञान की सब प्रधान-प्रधान बातें लिखी गई हैं, और उनमें परस्पर संबंध कर दिया गया है। छोटी-सी प्रारंभिक पुस्तक के लिये जो विषय अनावश्यक समझा गया है, वह सम्मिलित नहीं किया गया। संपूर्ण विषय लेने से एक पुस्तक क्या, एक पुस्तकालय भर सकता है, फिर भी कोई आवश्यक बात यथाशक्ति नहीं छोड़ी गई।

(२) चूँकि यह पुस्तक अध्यापकों के लिये लिखी गई है, इसलिये उन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है, जो अध्यापकों को लाभ पहुँचा सकती हैं; यथाशक्ति यह बतलाया गया है कि हरएक मानसिक शक्ति का प्रयोग और सुधार किस प्रकार किया जा सकता है। जहाँ तक हो सका है, युक्ति-संगत शिक्षा-प्रणाली का मंडन और अंधपरंपरा तथा अविवेक से मिली हुई प्रणाली का खंडन किया गया है।

(३) पुस्तक का प्रधान तत्त्व पाश्चात्य मनोविज्ञान से लिया गया है; परंतु जहाँ तक हो सका है, उसे भारतीय वेष पहनाया गया है। दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी उदाहरण लेखक ने अपने दिए हैं, और उनमें से अधिकांश ऐसे हैं, जो स्वयं लेखक के अनुभव में आए हैं। चूँकि ऐसे उदाहरण अन्य अध्यापकों के अनुभव में भी आए

होंगे, या यदि अभी तक न आए हों, तो अब सरलता से आ सकते हैं; इसलिये इनका मूल्य उन उदाहरणों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए, जो बड़ी सजधज के साथ अँगरेज़ी पुस्तकों में पाए जाते हैं; पर जिनका प्रयोग हमारी देशी पाठशालाओं में बहुत नहीं हो सकता।

(४) जहाँ तक हो सका है, हर विषय को शब्दांतर से, व्याख्या से, और उदाहरण से सरल करने का उद्योग किया गया है; परंतु विषय वैज्ञानिक है; इसलिये चाहे जितना सरल किया जावे, उसमें कुछ-न-कुछ कठिनता तो अवश्य ही रह जावेगी। भाषा जान-बूझकर कठिन नहीं की गई, परंतु जहाँ पर पूरा भाव चलतू शब्दों से नहीं प्रकट हो सकता, वहाँ कठिन शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है। वैज्ञानिक बारीकियाँ स्पष्ट करने के लिये चलतू शब्द प्रायः मिलते ही नहीं। यह चाहे पुस्तक का दोष समझ लिया जावे, परंतु इसके लिये उपाय ही क्या है?

(५) पुस्तक के लिखने में पहली कठिनता पारिभाषिक शब्दों की पड़ी है। न तो मनोविज्ञान-संबंधी पारिभाषिक शब्द चलतू हैं और न ढूँढ़े ही मिलते हैं। बड़ी कठिनता के साथ कुछ ढूँढ़कर और कुछ सोच-विचारकर काम चलाया गया है, और पाठकों के सुभीते के लिये तथा प्रचलित अँगरेज़ी शब्दों से मिलान करने के लिये पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों का अँगरेज़ी-अनुवाद दे दिया गया है।

(६) दूसरी कठिनता वही है जो मनोविज्ञान के हरएक लेखक को होती है, अर्थात् विषयों का क्रम। चूँकि मानसिक शक्तियाँ एक दूसरी से इस तरह पृथक्-पृथक् नहीं हैं जैसे कि हाथ-पाँव, नाक-कान आदि पृथक्-पृथक् होते हैं, बल्कि एक ही चीज़—मन की दशाएँ—हैं, जो मिली-जुली ही प्रकट होती हैं; इसलिये उनका

पृथक्-पृथक् वर्णन करने के लिये कोई क्रम नियत नहीं। जैसे किसी विषय के स्मरण करने में मस्तिष्क, चेतना, विचार-संबंध, अंतर्बोध, स्मरण, भावना, स्वभाव, ध्यान, व्यवसाय आदि सभी का कुछ-न-कुछ अंश सम्मिलित है, तो इनके वर्णन के क्रम में अवश्य ही कठिनता होगी—कोई एक प्रकार का क्रम रक्खेगा, कोई दूसरे प्रकार का। इस लेखक ने भी, जो क्रम उसे सबसे अच्छा मालूम हुआ, रख दिया।

यह बतलाना बड़ा कठिन है कि पुस्तक का विषय कहाँ-कहाँ से लिया गया है। बीसों आचार्यों की पुस्तकों से सम्मति ली गई है, जिनमें से मुख्य ये हैं—विलियम् जेम्स, लाइड मार्गन, डेक्स्टर-गार्लिक, सली, डम् विल, डिक्स। पारिभाषिक शब्द प्रायः वैज्ञानिक शब्द-कोश से लिए गए हैं। इन सबके लिये धन्यवाद देता हूँ। कई एक विषय समय-समय पर लेखों के रूप में 'विद्यार्थी', 'हितकारिणी' और 'श्रीकान्यकुब्ज-हितकारी' में मैंने दिए थे; उन्हें भी अविकल या परिवर्तन करके इस पुस्तक में सम्मिलित कर दिया है। उनके प्रकाशन-संबंधी आज्ञा-प्रदान के लिये संपादक महाशयों को धन्यवाद देता हूँ।

काशी
विजया-दशमी
[संवत् १९७६ वि०]

चंद्रमौलि सुकुल

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

उच्च कोटि की
मौलिक, सर्वांगसुंदर और सस्ती
पुस्तकें पढ़ना चाहें, तो
सुप्रसिद्ध गंगा-पुस्तकमाला
के स्थायी ग्राहक बनिए।

पं० चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी०
(पुस्तक-प्रणेता)

मनोविज्ञान

अध्याय १

प्रस्तावना, पुराना और नवीन मत

विद्या एक है। विद्या के अंगों और प्रत्यंगों के अलग-अलग नाम हैं। यदि विचार करके देखा जाय, तो विद्या का कोई भी अंग—गणित, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, पदार्थ-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि—अन्य अंगों के सहारे के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान आदि एक दूसरे की सहायता चाहते हैं, उसी प्रकार विद्या का विशाल शरीर भी अनेक अंगों में बँटा है, और कोई भी अंग दूसरे अंगों से बिलकुल स्वतंत्र नहीं हो सकता। मनोविज्ञान भी विद्या का एक अंग है, और इसलिये विद्या के अन्य अंगों से सहायता की अपेक्षा रखता है।

इससे सिद्ध यह हुआ कि यदि हम किसी एक शास्त्र का अध्ययन करना चाहें, तो विना सब शास्त्रों के अध्ययन के नहीं कर सकते; अर्थात् शास्त्र-विशेष के ज्ञाता होने के लिये सर्वज्ञ होना आवश्यक है। परंतु यह बात सर्वथा असंभव है। इसलिये एक-एक शास्त्र पढ़ने के लिये कोई-न-कोई युक्ति निकाली गई है; और वह युक्ति यह है कि हरएक शास्त्र के लिये दो-चार अत्यंत आवश्यक मूल-तत्त्व मान लिए जाते हैं। जहाँ तक हो सकता है, इन मूल-तत्त्वों के सिद्ध करने का भी उद्योग किया जाता है; परंतु यह काम अन्य शास्त्रों का है कि वे आकर इन तत्त्वों पर पूरा विचार करें; और इनकी शुद्धि-अशुद्धि का निर्णय करें।

मनोविज्ञान की भी यही दशा है। इस शास्त्र की आधुनिक परिपाटी में यह मान लिया गया है कि मनःसंबंधी बातों का अध्ययन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि जिन भौतिक बातों का ज्ञान मन को हुआ है, उन पर भी विचार न कर लिया जाय। अब प्रश्न उठता है कि मन क्या चीज़ है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मन कोई एक विशेष अंग या इंद्रिय नहीं है, किंतु सब वृत्तियों, ज्ञानों, निर्णयों आदि के समूह का नाम मन है। वृत्तियाँ ही नट हैं, वे ही नाट्यशाला हैं, वे ही दर्शक हैं; और उनका अस्तित्व जानने के लिये या उनका खेला हुआ नाटक देखने के लिये बाहर से कोई नहीं आता, जिसे मन कह सकें।

हिंदू-शास्त्रों का मत ऐसा नहीं है। उनमें आत्मा, जो जीव-रूप से शरीर में वास करता है, प्रधान है, और उसी आत्मा के लिये जीवन-रूप नाटक खेला जाता है। इंद्रियाँ दस मानी गई हैं—पाँच ज्ञान-इंद्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, जिह्वा और नासिका) और पाँच कर्म-इंद्रियाँ (हाथ, पाँव, वाणी, मल त्यागने के लिये इंद्रिय और मूत्र त्यागने के लिये इंद्रिय)। मन किसी-किसी के मतानुसार छठी ज्ञान-इंद्रिय है, और किसी-किसी के मतानुसार दसों इंद्रियों का राजा है। मन की गति बड़ी चपल है, उसकी उपमा मुँहज़ोर घोड़े से दी गई है, और उसे रोकना आत्म-संयमन है। यह भी कहा जाता है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, ये चार अंतःकरण कहलाते हैं अर्थात् भीतरी इंद्रियाँ हैं।

यहाँ पर हिंदू-शास्त्रों के मत का विवरण देना इष्ट नहीं, क्योंकि यद्यपि न्याय-शास्त्र, सांख्य-शास्त्र और वेदांत-शास्त्र आदि में मनोविज्ञान का विषय भरा पड़ा है, तथापि जिस रीति से यह शास्त्र योरप में एक अलग ही शास्त्र माना जाता है, उस रीति से भारतवर्ष

में नहीं माना गया है। इसलिये आजकल कोई ऐसी पुस्तक नहीं मिलती, जिसमें हिंदू-शास्त्रों के अनुसार मन आदि का विस्तृत वर्णन मिले।

एक भेद और भी है। जो भारतीय पुराने शास्त्र हम आजकल देखते हैं, वे हज़ारों वर्ष के विचार और अनुभव के पीछे लिखे गए हैं, और यथासंभव उनमें कोई क़सर नहीं रक्खी गई है। उनका अंतिम रूप जो बन गया सो बन गया; अब हम लोगों में न इतना बोध है, और न इतना साहस कि पुराने ग्रंथों की त्रुटियाँ निकालकर उनका संशोधन करें। परंतु योरप के शास्त्रों में यह बात नहीं। कल एक शास्त्रज्ञ ने कोई बात सिद्धांत की लिखी, तो आज उसी शास्त्रज्ञ ने उसमें कुछ परिवर्तन किया या और किसी ने उससे अंशतः अथवा पूर्णतः विरुद्ध कोई दूसरा तत्व निकाला। या यों कह सकते हैं कि योरपीय मनःशास्त्र बहुत दिनों से संशोधन और परिवर्धन की दशा में है, और बहुत संभव है कि अभी तक उसका अंतिम शुद्ध रूप निश्चित न हुआ हो। भारतीय शास्त्र भी इसी प्रकार हज़ारों वर्ष विचाराधीन रहे होंगे, और अनेक संशोधनों तथा परिवर्धनों के पीछे उनका अंतिम रूप निश्चित हुआ होगा।

इस पुस्तक में मनोविज्ञान का जो कुछ वर्णन है, वह पाश्चात्य (योरपीय, अमेरिकन) सिद्धांतों के अनुसार है।

मनोविज्ञान में मन के नियमों पर विचार किया जाता है। जैसे व्याकरण-शास्त्र का विषय शब्द है, तर्क-शास्त्र का विषय वाक्य है, अंक-गणित का विषय अंक है, उसी तरह मनोविज्ञान का विषय मन है। इस शास्त्र के द्वारा हमको ज्ञात होता है कि अमुक विचार हमारे मन में क्यों पैदा हुआ, उससे पहले कौन-सा विचार था, उसके पीछे कौन-सा विचार आया, इन विचारों में क्या संबंध है, आदि।

योरप के पुराने और नए मनोविज्ञानों में एक बड़ा भारी भेद है। पुराने शास्त्रकारों का मत था कि हरएक प्राणी के जीव होता है, जिसे आत्मा कहते हैं, और चेतना के लिये इस जीव या आत्मा का होना आवश्यक है; इस आत्मा ही की बदौलत प्राणी सोच-विचार कर सकता है, इसी के कारण क्रोध, प्रेम, ममता आदि उत्पन्न होते हैं, और शरीर से जीव निकल जाने पर मृत्यु हो जाती है।

नवीन शास्त्रकारों का मत है कि हमारे इस शास्त्र के लिये आत्मा या जीव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है; मनोविज्ञान के विद्यार्थी को आत्मवाद और अनात्मवाद के झगड़े में पड़ने का कोई काम ही नहीं; इस बात से हमें कोई प्रयोजन ही नहीं कि आत्मा होती है या नहीं; यह काम अन्य शास्त्रों का है। स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक मनःशास्त्र के आचार्य नास्तिक नहीं हैं; वे यह नहीं कहते कि आत्मा या जीव या ईश्वर है ही नहीं; उनका कथन केवल यह है कि हम मनोविज्ञान का संगठन इस प्रकार कर सकते हैं कि हमें आत्मा के जटिल प्रश्न पर विचार न करना पड़े।

इन आधुनिक आचार्यों का मत है कि प्राणियों के शरीर में मस्तिष्क और स्नायु-तंतुओं का जाल है; उन्हीं की गति से चेतना उत्पन्न होती है। आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन स्नायु-तंतुओं का काम है; क्रोध, भय, साहस, विचार, तर्क, धैर्य आदि आंतरिक भाव भी स्नायु-तंतुओं और मस्तिष्क की विविध गतियों के साथ-साथ होते हैं।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि पुराने आचार्यों का मत ठीक है या नवीन आचार्यों का। विज्ञान-वेत्ताओं ने प्रयोगों और अनुभवों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि हरएक मानसिक चेष्टा

के साथ-साथ या उससे पहले मस्तिष्क की चेष्टाओं का होना आवश्यक है; जब तक मस्तिष्क या स्नायुओं में कोई परिवर्तन न होगा, तब तक कोई मानसिक बात पैदा नहीं होगी। अब रही यह बात कि स्नायुओं या मस्तिष्क के परिवर्तन से मानसिक परिवर्तन कैसे हो जाता है, सो इसका ठीक-ठीक उत्तर अभी तक कोई भी आचार्य नहीं दे सका। इससे आत्मवादियों को अपना मत पुष्ट करने का पूरा अवकाश रहता है। इधर नवीन आचार्य भी यह कहकर विषय को टाल देते हैं कि हमें इस बात के निश्चय करने की आवश्यकता नहीं है, हमारे शास्त्र के लिये इतना ही पर्याप्त है कि शारीरिक परिवर्तनों से मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं।

उपर्युक्त बातों को अधिक स्पष्ट करने का उद्योग अगले अध्यायों में किया जायगा।

अध्याय २

शारीरिक चेष्टा का महत्त्व

प्राणिशास्त्र का मूल सिद्धांत है कि हरएक प्राणी के शरीर में जितने अंग हैं, सब उसकी रक्षा, वृद्धि और भलाई के लिये हैं। मनुष्य के पैर चलने का काम देते हैं; हाथों से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं; आँखें न हों तो कुछ देख न सकें; कान न हों तो सुन न सकें; हृदय के धड़कने से सब अंगों में रक्त पहुँचता है; आमाशय, पित्ताशय, आँतों आदि से भोजन का परिपाक होता है; आदि। इसी तरह मस्तिष्क और स्नायु-तंतुओं के द्वारा जो मानसिक चेष्टा उत्पन्न होती है, कई प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, अनेक विचार पैदा होते हैं, उन सबका अभिप्राय भी शरीर की भलाई ही से है। अपने पुत्र को देखकर लोग उसे गोद में उठा लेते हैं, परंतु भेड़िए को देखकर या तो उस पर चोट करते हैं या स्वयं भाग जाते हैं। कंस का स्मरण करके कुनीति छोड़ देने का विचार होता है, और हरिश्चंद्र का स्मरण करके प्रतिज्ञा-पालन की लहरें मन में उठने लगती हैं। किसी दूसरे की कोई सुंदर वस्तु देखकर चाहे उसे चुरा लेने को जी भी चाहे, परंतु सभ्य-समाज के नियमों पर विचार करके या धर्म के विचार अथवा पुलिस के डर से उस वस्तु पर हाथ नहीं डालते। इन सब बातों का अभिप्राय यही है कि चेतना-शक्ति के प्रभाव से हम वही काम करते हैं, जिनसे संसार में हमारा शरीर अधिक समय तक रहे। जिन मानसिक बातों और चेष्टाओं के लिये हम यह मानते हैं कि इनका कोई भी प्रभाव शरीर पर और शारीरिक चेष्टाओं पर नहीं पड़ता, वे भी

विचार करने से शरीर की रक्षा पर अपना बहुत कुछ प्रभाव रखती हुई सिद्ध होती हैं। इस समय न सही तो किसी अन्य समय सही, पर इन कोरी मानसिक चेष्टाओं का प्रभाव होगा अवश्य ही। सुंदर खिले हुए गुलाब के फूल को देखकर शरीर पुलकित हो जाता है, तब आप कह सकते हैं कि मानसिक सुख तो अवश्य हुआ, परंतु शरीर पर कोई प्रभाव न पड़ा। सुनिए, मानसिक सुख मिलने से आपके शरीर का स्वास्थ्य किसी-न-किसी अंश में अवश्य बढ़ा; अब आप सुगंध-युक्त और आँखों को सुख देनेवाले पदार्थों में पहले से कुछ अधिक रुचि रक्खेंगे, तथा दुर्गंधी और घृणित पदार्थों से दूर रहेंगे। क्या इस आदत के पैदा हो जाने से आपके शरीर की रक्षा अधिक नहीं होगी?

जब मनुष्य की मानसिक शक्ति इतनी बढ़ेगी कि वह इस दुनिया से संबंध न रखनेवाले तत्त्वों को सोच सकेगा, और ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि पर विचार दौड़ा सकेगा, तो क्या वह इस दुनिया से या अपने शरीर से संबंध रखनेवाली बातों के समझने के योग्य न होगा? या हम इस प्रकार पूछ सकते हैं कि जब तक शरीर की उपयोगी व्यावहारिक बातों से अर्थात् सांसारिक बातों से पूरा परिचय न होगा तब तक क्या खरा तत्त्वज्ञान प्राप्त हो सकता है? श्रीस्वामी शंकराचार्यजी को लीजिए, मुहम्मद साहब को लीजिए, हज़रत ईसा को लीजिए, महात्मा बुद्ध को लीजिए, और विचार करके देखिए कि इन तत्त्वज्ञानियों का ज्ञान क्या कोरा मानसिक ज्ञान था; क्या इन महात्माओं का व्यावहारिक ज्ञान इनके मानसिक ज्ञान से कम था; क्या इनको समाज की रक्षा और वृद्धि के लिये कोई उपाय नहीं सूझा; क्या इन्होंने अपने-अपने समाज और संप्रदाय का संगठन और पुष्टि करने ही के लिये तत्त्वज्ञान का विकास नहीं किया? यथार्थ बात तो यह है कि

प्राणियों को चेतना-शक्ति मिलने का मुख्य अभिप्राय शरीर की रक्षा है, और केवल मानसिक सुख-संपादन करना उसका गौण अभिप्राय है।

उपर्युक्त बातों की पुष्टि के लिये हमें मनुष्य से अतिरिक्त अन्य प्राणियों पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए। हम मनुष्य हैं, और मनुष्यों को सब प्राणियों का सिरताज समझते हैं; परंतु क्या कभी किसी ने व्याघ्र-सिंह और भेड़-भ्रमर-सर्प आदि प्राणियों से भी पूछा है कि हमारे लिये उनकी क्या राय है? यदि उनमें समझ हो, तो वे अपने को हमसे अच्छा समझें, और कदाचित् समझते भी हों। अच्छा, तो वे भी प्राणी और हम भी प्राणी, और जिन बातों पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उनके लिये सब प्राणी समान हैं। इन मनुष्येतर प्राणियों की चेतना-शक्ति इनकी शरीर-रक्षा ही के लिये होती है, तो वही सिद्धांत मनुष्य के लिये भी क्यों न माना जाय?

उपर्युक्त वर्णन का सारांश यह है कि मस्तिष्क के द्वारा चेतना-शक्ति उत्पन्न होती है, और चेतना-शक्ति का काम शरीर की रक्षा करना है, अर्थात् जिस समय जैसे काम की आवश्यकता हो, ठीक उसी काम का समझना और करना ही चेतना-शक्ति का मुख्य अभिप्राय है। इसलिये बच्चों को शिक्षा देने में यह बात आवश्यक है कि उनकी मानसिक शक्तियों का सुधार इस प्रकार किया जाय कि वे संसार की बातों को, और विशेषतः अपनी परिस्थिति को, अच्छी तरह समझ सकें, और उसी के योग्य कार्य कर सकें, जिससे कठिनाइयों का सामना भी वे अच्छी तरह कर सकें, और संसार में अपना जीवन भी सफल कर सकें। रह गई कोरे मानसिक सुख की बात, सो उसके लिये कोई रोक-टोक नहीं, बल्कि व्यावहारिक बातों में प्रवीण होना ही कोरे मानसिक सुख की सीढ़ी है।

व्यावहारिक बातों से कोई संपर्क न रखकर कोरा मानसिक सुख ढूँढ़ना भ्रम-मात्र है। बच्चों को परिस्थिति का पूरा ज्ञान कराइए, तो मानसिक सुख भी साध्य होगा; नहीं तो आशा के बदले निराशा होगी।

अध्याय ३

मस्तिष्क और स्नायु-जाल, इंद्रिय-जन्य ज्ञान

वैज्ञानिकों ने बड़े परिश्रम से सिद्ध किया है कि मनुष्य की खोपड़ी के भीतर मस्तिष्क या दमाग़ रहता है। जैसा कि आगे बतलाया जायगा, मस्तिष्क शरीर का सबसे आवश्यक भाग है। इसीलिये उसकी रक्षा का एक उपाय भी प्रकृति ने किया है। सबसे ऊपर बाल, तब खाल, फिर हड्डियों का बड़ा पुष्ट ढाँचा, तब कई प्रकार की झिल्लियाँ और अंत में मस्तिष्क मिलता है। मस्तिष्क की ऊपरी तह में भूरे रंग की कोई चीज़ है, उसके नीचे सफ़ेद रंग की। मस्तिष्क एक चिकना पिंड-सा नहीं होता, बल्कि अख़रोट की गिरी की तरह उसका धरातल अत्यंत विषम होता है, जिसका अभिप्राय यह है कि अधिक धरातल मिल सके।

यह मस्तिष्क आगे बढ़ता हुआ माथे तक चला जाता है, और पीछे की ओर गर्दन तक। परंतु गर्दन ही पर उसकी समाप्ति नहीं हो जाती; उसका एक भाग बढ़ता हुआ रीढ़ की हड्डी के भीतर चला जाता और पीठ पर होते हुए कमर तक पहुँचता है। हर भाग में मस्तिष्क की बनावट भिन्न-भिन्न हो जाती है; भूरे रंग का पदार्थ सर्वत्र नहीं होता।

इसी मस्तिष्क से दोनों ओर डोरियों की तरह स्नायु के जोड़े निकलकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में चले जाते हैं। कुल ४३ जोड़े होते हैं, जिनमें से १२ तो खोपड़ी ही से निकलते हैं, और अन्य गर्दन तथा पीठ में जो भाग मस्तिष्क का चला आता है, उससे निकलते हैं। ये स्नायु अपने उद्गम-स्थान से निकलकर

और शरीर के नियत भाग में पहुँचकर डोरी की लड़ों की तरह फैल जाते हैं। शरीर का कोई भाग सिवा ऊपरी पतली खाल के, मुर्दा नखों के और बालों के बाहरी भागों के, इन स्नायुओं से खाली नहीं है। यथार्थ में समग्र शरीर में स्नायुओं का जाल-सा बिछा हुआ है; कहीं पर भी पतली-से-पतली सुई चुभाइए, तो कोई-न-कोई स्नायु सुई की नोक से कट जायगा, और सुई चुभने की पीड़ा मालूम होगी।

ये स्नायु क्या हैं मानो शरीर-देश में टेलीफ़ोन या तारबर्क़ी के तार हैं। शरीर-देश का राजा मस्तिष्क है, और विशेषकर वह भाग, जो खोपड़ी ही में सबसे ऊपर रहता है। आपकी अँगुली में ठंडी बर्फ़ लगी या गर्म कड़ाही छू गई कि उस स्थान पर वर्तमान स्नायु के तंतुओं ने तत्क्षण अपने तार द्वारा मस्तिष्क राजा को सूचना दी।

आपके सामने पीला अमरूद आने में देर नहीं कि आँख के स्नायुओं ने राजा के प्रधान कार्यालय को सूचना दी। इसी प्रकार कान, नाक, जिह्वा आदि अपने विषयों की सूचना राजा मस्तिष्क को देने में अल्प विलंब भी नहीं करते। यथार्थ बात तो यह है कि जब तक राजा मस्तिष्क इन सूचनाओं को ग्रहण न करे, तब तक प्राणी को इन विषयों का ज्ञान ही नहीं होता। बाहरी विषयों की सूचना मस्तिष्क तक पहुँचना और उसके द्वारा उनका स्वीकार किया जाना ही ज्ञान या संज्ञा है, या बाहरी वस्तु का ज्ञान चेतना में आना है।

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या कारण है कि आँख के स्नायु देखने ही की सूचना मस्तिष्क को भेजते हैं, सुनने या सूँघने की नहीं; और त्वचा के स्नायु स्पर्श ही का ज्ञान करा सकते हैं, देखने या चखने का नहीं। इसका कारण यह है कि यद्यपि पाँचों इंद्रियों

में फैले हुए स्नायुओं का उद्‌गमन मस्तिष्क ही से हुआ है, और उनकी बनावट भी एक ही है, तथापि अपनी नियत इंद्रिय में आकर जब वे फैलते और अपने मुँह या सिरे या वे भाग, जिनके द्वारा वे ज्ञान ग्रहण करते हैं, फैलाते हैं, तो इंद्रिय विशेष के लिये ये मुँह या सिरे विशेष प्रकार के हो जाते हैं।

देखने की सूचना ले जानेवाले स्नायुओं के मुख एक प्रकार के होते हैं, तो सुनने की सूचना ले जानेवाले स्नायुओं के मुख दूसरे प्रकार के और स्पर्शवाहक स्नायुओं के मुख तीसरे प्रकार के। इन्हीं मुखों या सिरों ही की विशेष बनावट के कारण स्नायुओं का विषय भी पृथक्-पृथक् हो जाता है। विषय ग्रहण करने की शक्ति इन स्नायु-तंतुओं के सिरों ही में होती है। शेष भागों में सूचना ले जाने की शक्ति होती है। शहर में टेलीफ़ोन के सैकड़ों तार दृष्टिगोचर होते हैं, परंतु यदि कोई ख़बर भेजना चाहे, तो किसी ऐसे स्थान पर जाना पड़ता है, जहाँ किसी तार का सिरा या मुँह हो।

स्नायु-तंतुओं के सिरों की बनावट नियत होने से उन तंतुओं का काम भी नियम-बद्ध हो जाता है, और मस्तिष्क के जिन भागों से वे निकले हैं, अर्थात् जिन भागों को वे बाहरी विषय की सूचना दे जाते हैं, उनका काम भी नियम के भीतर आ जाता है। जैसे मस्तिष्क का वह भाग, जहाँ से आँख का स्नायु निकलता है, दृष्टि-संबंधी ज्ञान का केंद्र है। इसी प्रकार सुनने, सूँघने आदि के केंद्र भी मस्तिष्क में नियत हैं।

बाहरी वस्तु से स्नायु-तंतुओं के सिरों तक सूचना कैसे आती है? वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि आकाश (अँगरेज़ी ईथर) में प्रकाश की लहरें उठा करती हैं, ये लहरें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि इनकी गति हम देख नहीं सकते, परंतु इनकी संख्या प्रति सेकंड बहुत अधिक होती है। किसी वस्तु पर जब प्रकाश पड़ता है, तो उसके

हरएक भाग से प्रकाश की लहरें हर ओर फैलती हैं। जो भाग हमारी आँखों के सामने है, उससे प्रकाश की लहरें निकल-निकलकर हमारी आँखों तक पहुँचती हैं, जहाँ पर आँख की विशेष बनावट के कारण वे स्नायु-तंतुओं के सिरों तक पहुँच जाती हैं। वायु में लहरें उठा करती हैं, जिनके द्वारा शब्द चलकर कान में पहुँच जाता है। गंध-युक्त वस्तुओं के अत्यंत सूक्ष्म अणु उन वस्तुओं से निकलकर वायु के द्वारा नासिका में पहुँचते हैं। चखने और छूने में तो वस्तुओं का संपर्क ही जिह्वा और त्वचा से होता है।

हमारी इंद्रियों का बल सीमा-बद्ध है; यह बात नहीं है कि बाह्य संसार में जो कुछ हो रहा है, उस सबका ज्ञान हमको इंद्रियों या स्नायु-तंतुओं द्वारा हो सकता है। जब तक वायु की लहरें एक सेकंड में एक नियत संख्या तक न पहुँचेंगी, तब तक हमें शब्द न सुनाई देगा; इस प्रारंभिक संख्या से कम लहरों के सुनने की शक्ति मनुष्य में नहीं है, कदाचित् किसी अन्य प्राणी में हो। इसी प्रकार लगभग चालीस सहस्र लहरें प्रति सेकंड तक मनुष्य के लिये श्रवण-योग्य शब्द पैदा करती हैं, और जब लहरों की संख्या इससे ऊपर चली जाती है, तब मनुष्य को शब्द नहीं सुनाई देता। अल्प-से-अल्प गर्मी का भान जब मनुष्य को होता है, तो गर्मी की लहरें प्रति सेकंड करोड़ों होती हैं। अब देखना चाहिए कि प्रति सेकंड चालीस सहस्र से ऊपर वायु-लहरियाँ मनुष्य के लिये शब्देंद्रिय-संबंधी ज्ञान नहीं पैदा करतीं, परंतु जब वे ही बढ़कर प्रति सेकंड करोड़ों हो जाती हैं, तो अत्यंत अल्प मात्रा में गर्मी का भान होता है। इस बीच में लहरों की संख्या प्रति सेकंड जितनी भी होती हो, उससे मनुष्य को कोई भी इंद्रिय-संबंधी ज्ञान नहीं होता। यदि प्रकृति देवी की इच्छा होती, तो वे छठी-सातवीं-आठवीं इंद्रियों का निर्माण कर देतीं, जिनके द्वारा ऐसे विषयों का ज्ञान होता, जिनमें लहरों की संख्या

प्रति सेकंड चालीस सहस्र से ऊपर और करोड़ों से नीचे होती। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान अनंत है, जिसमें से मनुष्य को अत्यंत अल्प मात्रा में दिया गया है। मनुष्य की इंद्रियों की शक्ति यथार्थ में बहुत कम है।

परंतु इंद्रिय-जन्य ज्ञान की जो सीमा है, उसमें इंद्रियों को पूरा बल दिया गया है। जैसे कर्णेंद्रिय में इतना बल है कि वह उच्च स्वर और नीच स्वर में भेद जान सके; ढोल, सितार, हारमोनियम, जिह्वा आदि से निकले हुए शब्दों में विवेक कर सके; संगीत से प्रसन्न और हल्ला-गुल्ला से अप्रसन्न हो सके। लहरी-संख्याओं की न्यूनता तथा अधिकता से नीच स्वर और उच्च स्वर जाने जाते हैं, इसी प्रकार लहरों के वेग और उनके रूप के भेद से शब्दों में भेद होता है। आँख को लाल, पीला, नीला आदि रंगों में विवेक करने का अधिकार दिया गया है, जिह्वा में खट्टा, मीठा, नमकीन आदि जानने का बल है, नासिका को इतनी शक्ति है कि वह कस्तूरी और प्याज़ की गंध में विवरण कर सके; और त्वचा में सर्दी, गर्मी आदि जानने की शक्ति है।

ऊपर के वर्णन से प्रकट है कि बाह्य संसार में चाहे जो कुछ परिवर्तन हो रहा हो, हमें केवल उतने ही का ज्ञान हो सकता है, जितने की सूचना ज्ञान-तंतुओं के सिरों द्वारा हमारे मस्तिष्क में जाती है। अन्य किसी प्रकार भी बाह्य पदार्थों का ज्ञान हमें नहीं हो सकता। परंतु स्नायुओं के ज्ञानवाहक तंतुओं ही से हमारा काम नहीं चल सकता। जिस राष्ट्र में हर नगर और ग्राम से राजा के प्रधान कार्यालय तक टेलीफ़ोन जाता हो, या तारबर्क़ी जाती हो, परंतु उस कार्यालय से राजा की आज्ञा लाने का कोई प्रबंध न हो, उस राष्ट्र का काम चल नहीं सकता। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों की सूचना मस्तिष्क तक पहुँच जाना ही पर्याप्त नहीं,

किंतु कोई ऐसा भी प्रबंध आवश्यक है, जिससे मस्तिष्क की आज्ञाएँ शरीर के हरएक भाग में पहुँच सकें। प्रकृति ने ऐसा प्रबंध कर दिया है। ज्ञान वाहक स्नायु-तंतुओं के अतिरिक्त एक और प्रकार के भी स्नायु-तंतु शरीर में फैले हैं, जिनके द्वारा मस्तिष्क से आज्ञा आती है। इन्हें हम आज्ञावाहक स्नायु-तंतु कह सकते हैं। हम लिख इसलिये रहे हैं कि हमारा मस्तिष्क हमारे हाथ और अँगुलियों आदि की मांस-पेशियों को आज्ञावाहक तंतुओं के द्वारा आज्ञा दे रहा है कि अमुक प्रकार से सिकुड़ो या फैलो, जिससे हड्डियाँ एक विशेष प्रकार से झुकें, और क़लम रुके तथा आगे-पीछे, दाहिने-बाएँ, चल सके।

उत्पन्न होने के समय से इंद्रियांतर्गत स्नायु-तंतु, ज्ञानवाहक और आज्ञावाहक दोनों प्रकार के, अपना काम करने लगते हैं; और आदत पड़ जाने से साधारण काम स्वाभाविक हो जाते हैं। पहले जिन कामों के करने में प्रति क्षण मस्तिष्क की आज्ञाओं और चेतना-शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती थी, अब वे ही काम ऐसे स्वाभाविक हो गए हैं कि बिना प्रकट प्रयास के हम उन्हें कर डालते हैं। पहले चलना सीखने में बच्चे को कितना प्रयास करना पड़ता है; उसे ध्यान-पूर्वक एक पैर उठाना पड़ता है, और दूसरे पर शरीर का भार रोकना पड़ता है। अभ्यास हो जाने पर फिर उसे चलने में विशेष ध्यान नहीं देना पड़ता।

स्नायु-तंतुओं का ज्ञान-संवाहन और आज्ञा-संवाहन इस फुर्ती के साथ होता है कि जिसे देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। रात को अँधेरे में अगर आपके पैर के नीचे कोई गुलगुला पदार्थ (मेंढक आदि) पड़ गया है, तो आपको अनुभव हो गया होगा कि ये तंतु किस प्रकार अपना काम करते हैं। गुलगुले पदार्थ का ज्ञान होते ही चेतना में यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि कहीं काला सर्प

न हो। मस्तिष्क में उस समय ऐसा भारी आंदोलन उठ खड़ा होता है कि उस विपत्ति का निवारण करने के लिये एक ही साथ अनेक अंगों को आज्ञा मिलती है—पैर को आज्ञा मिलती है कि तत्क्षण उठकर अलग चला जाता है; हृदय को आज्ञा मिलती है कि विकट रूप से धड़कने लगता है; आँखों को आज्ञा मिलती है कि अँधेरे में भी देखने का उद्योग वे करने लगती हैं; हाथों को आज्ञा मिलती है कि वे छड़ी आदि को सँभालकर तैयार हो जाते हैं; वाणी को आज्ञा मिलती है कि वह "अरे" कह देती है। इसी प्रकार और न जाने कितनी तैयारी हो जाती है।

अध्याय ४

चेतना-प्रवाह

मनुष्य जब तक जागता रहता है, और कभी-कभी सोते समय भी, अर्थात् स्वप्नावस्था में, उसको चेतना रहती है। हम कहते हैं कि पत्थर जड़ है और मनुष्य चेतन, अर्थात् मनुष्य सोच-विचार कर सकता है, उसे सुख-दुःख होते हैं, वह इच्छा करता है, स्मरण रखता और ध्यान देता है। ये ही सब चेतना के काम हैं, और इनमें से हरएक को 'मनोवृत्ति' कहते हैं। मनोवृत्तियाँ मनुष्य के मन में आती-जाती और बदलती रहती हैं। एक क्षण में एक मनोवृत्ति हुई, तो दूसरे क्षण में दूसरी आ गई। अब देखना चाहिए कि इन मनोवृत्तियों के मुख्य लक्षण क्या हैं।

चेतना की उपमा नदी से दी जाती है। जैसे नदी का प्रवाह अनवच्छिन्न अर्थात् लगातार होता है, वैसे ही चेतना का प्रवाह भी; उसमें बीच में अंतर नहीं पड़ता। ऐसा नहीं होता कि मन में एक वृत्ति आकर समाप्त हो गई, तब कुछ अंतर देकर दूसरी वृत्ति आई, किंतु एक वृत्ति के रहते-रहते ही उसमें कुछ परिवर्तन होकर दूसरी वृत्ति हो जाती है। नदी में लहरें उठती हैं, और एक लहर की समाप्ति के पहले ही दूसरी लहर का प्रारंभ हो जाता है; यही दशा मनोवृत्तियों की भी है। साधारण बोल-चाल में भी कहते हैं कि यह हमारे मन की लहर है। एक उदाहरण लीजिए। माली ने आकर आपके सामने गुलाब का फूल रख दिया; उसकी शोभा देखकर आपको आनंद हुआ, अर्थात् चित्त में यह वृत्ति पैदा हुई कि यह गुलाब का फूल बड़ा ही सुंदर है। अब

विचार कीजिए कि यह वृत्ति बिना किसी परिवर्तन के कितनी देर तक आपके मन में ठहर सकती है। कदाचित् आप कहें कि यह हमारी इच्छा पर अवलंबित है, यदि हम चाहें तो दस-पंद्रह मिनट क्या, घंटे-आध घंटे तक उसी फूल को देखते रहें, और फूल की शोभा का विचार अपने मन में स्थायी रक्खें। परंतु यह बात सत्य नहीं है; आपकी मनोवृत्ति क्षण-भर से अधिक, एक-आध सेकिंड से अधिक, नहीं ठहर सकती। आप फूल पर एक घंटे तक दृष्टि रख सकते हैं, परंतु मनोवृत्तियों में बराबर परिवर्तन होता जायगा। आपका ध्यान कभी उस फूल की पँखड़ियों पर, कभी उसकी ललाई पर, तथा कभी उसकी केसर पर जायगा; और, यदि आपने ध्यान की बागडोर तनिक ढीली कर दी, तो आपकी मनोवृत्तियाँ न-जाने कहाँ-कहाँ पहुँच जायँगी। कभी आप उस फूल के पेड़ का स्मरण करेंगे, तब सोचेंगे कि यदि पेड़ में अधिक खाद दी जाती, तो फूल और भी बड़ा होता। तब सोचेंगे कि अब की बार अमुक अहीर की गोशाला से खाद लावेंगे। अहीर का स्मरण आते ही आपके मन में उसके पुत्र-शोक की लहर उठेगी, और आप दुखी होंगे। उसी प्रसंग में किसी और का स्मरण आवेगा, जिसको उसी प्रकार का दुःख पड़ा हो। इसी प्रकार विचारों का सिलसिला बराबर लगा रहेगा।

अब मान लीजिए कि जिस समय माली फूल लाया था, वहाँ पर कई आदमी बैठे थे। फूल को देखकर आपके मन में तो उपर्युक्त वृत्तियाँ पैदा हुईं; परंतु और आदमियों की क्या दशा हुई? सबके मन में एक ही प्रकार की वृत्तियाँ न उठी होंगी। उसी फूल को देखकर किसी को गुलाब के इतर का ख़याल आया होगा, फिर उससे जौनपुर या क़न्नौज का ख़याल आया होगा, जहाँ कि इतर के कार्यालय हैं। जौनपुर से गोमती-नदी का, तब गंगा-नदी का, तब गंगा-नदी में

उसको उसी के अनुसार विचार का संकेत मिलता है; पंडित को ख़ज़ाने का ज्ञान होने पर भी स्वभावतः पुस्तक ही का स्मरण आता है।

२. प्रबलता—यथार्थ अनुभव में जो भाव बड़ी प्रबलता के साथ आता है, उस भाव का पुनरुज्जीवन बड़ी सरलता के साथ होता है; उसका प्रभाव चित्त पर इतना गहरा पड़ जाता है कि उसके सामने उसके प्रतिस्पर्धी भावों को मौक़ा नहीं मिलता। मेरे एक मित्र ने लड़कपन में किसी डॉक्टर को एक आदमी के पैर में नश्तर लगाते देखा था; आधा पैर सड़ गया था, और यद्यपि डॉक्टर ने बड़े धैर्य के साथ अपना काम किया, तथापि रक्त और मवाद का प्रवाह देखकर मेरे मित्र को मूर्च्छा-सी आ गई। तब से नश्तर का नाम सुनते ही उनके मन में उसी दृश्य का भाव उदय होता है। यद्यपि तब से उन्होंने नश्तर के अनेक दृश्य देखे, तथापि उस समय की भाव-प्रबलता से अन्य दृश्य भूल जाते हैं। स्वयं मैंने कमल के फूल हज़ारों बार देखे होंगे, परंतु कमल का नाम सुनते ही मेरे मन में वही दृश्य आ जाता है, जब कि मेरे पिताजी के एक मित्र ने मुझे एक बार एक हज़ारा कमल (बहुत भारी फूल) दिया था। उस हज़ारा फूल का इतना प्रबल प्रभाव मेरे चित्त पर पड़ा कि उसके सामने कमल देखने के और अनेकों दृश्य दब जाते हैं। इस प्रकार के कई अनुभव प्रायः हरएक आदमी को होते हैं, जो सोचने पर प्रकट होंगे।

३. नवीनता—तुलसीदासजी के ग्रंथों में रामचरितमानस सबसे बड़ा और उत्कृष्ट ग्रंथ है, और अपनी भाव-प्रबलता के कारण अन्य भावों को दबाकर प्रायः अपना ही भाव उदय करता है। परंतु परसों मैं तुलसी-कृत बरवा-रामायण पढ़ता था, इसलिये तुलसीदास का नाम सुनते ही मेरे मन में बरवा-रामायण का ही भाव

मनोवृत्तियों का संबंध नहीं है । मनोवृत्तियों की पूर्ण समानता असंभव है ।

(३) मनोवृत्तियाँ नदी की धारा के समान लगातार चलती हैं । उनमें अंतर नहीं पड़ता, परंतु बराबर परिवर्तन होता जाता है । कोई भी मनोवृत्ति एक ही रूप में एक क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती ।

(४) यद्यपि एक मनोवृत्ति का संबंध सैकड़ों मनोवृत्तियों से हो सकता है, तथापि पहली मनोवृत्ति का संकेत पाकर केवल एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है । एक ही गुलाब के फूल को देखकर अनेक आदमियों के मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पेड़ का स्मरण, इतर का स्मरण, कमल का स्मरण) पैदा हुई ; परंतु किसी के मन में सब वृत्तियाँ एकसाथ नहीं आईं । सारांश यह कि कोई भी मनोवृत्ति अपने से संबंध रखनेवाली बहुत-सी मनोवृत्तियों में से किसी एक को चुन लेती है, और वह चुनी हुई मनोवृत्ति उस पहली मनोवृत्ति के पश्चात् उपस्थित होती है ।

अब मनोवृत्तियों के एक विशेष स्वभाव या धर्म का हाल जानने के लिये उदाहरण लीजिए । मैं इस समय लिख रहा हूँ, मेरा ध्यान लिखने ही में लगा है । परंतु दिन कुछ चढ़ चुका है, हवा बंद है, और गरमी हो रही है । गरमी के कारण शरीर को क्लेश पहुँच रहा है ; लिखने में ध्यान रहने पर भी गरमी की थोड़ी-सी भावना मन में लगी है । घड़ी भी सामने रक्खी है, और थोड़ी देर हुई कि उसमें देखा था साढ़े नौ बज चुके थे ; तब से देर होने का ख़याल भी मन के एक कोने में पड़ा है । पेड़ के नीचे बच्चे खेलते और चिल्लाते हैं, जिससे मेरे लिखने में विघ्न हो जाता है ; और मेरे मन में कई मिनट से बहुत हलकी-सी यह भावना उठ रही है कि यह पैरॉग्राफ़ लिखकर बच्चों को यहाँ से हटा दूँ । गरमी, देर और

चिल्लाने से मेरे लिखने में कुछ विघ्न तो अवश्य पहुँचा, परंतु लिखने से ध्यान नहीं हटा। निदान बच्चों की चिल्लाहट बहुत बढ़ी, और लिखने से मेरा ध्यान उचट गया। तब मैंने डाँटकर बच्चों को वहाँ से हटाया। बीच में एक बार घड़ी की खटखटाहट से मेरा ध्यान कुछ बँट गया था; परंतु मैंने उसी दम अपने ध्यान को सँभालकर फिर लिखने में लगा दिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यद्यपि मेरी मनोवृत्ति के केंद्र में लिखने का ध्यान था, तथापि केंद्र के इर्द-गिर्द गरमी, देर और चिल्लाने के भावों का भी हलका-सा प्रभाव था। पर सबका प्रभाव बराबर नहीं था; किसी का कम, किसी का कुछ अधिक। लिखने, गरमी, देर, चिल्लाहट और संभवतः और भी दो-एक बातों के अंश मेरी मनोवृत्ति में अवश्य उपस्थित थे। विशेष ध्यान तो लिखने ही पर रहा; गरमी, देर और चिल्लाहट का बल गौण अर्थात् दूसरे-तीसरे दर्जे का था। परंतु इन गौण बातों में भी कभी एक का बल अधिक हो जाता था, कभी दूसरी का। एक बार घड़ी की खटखटाहट ने लिखने की वृत्ति को केंद्र से बाहर निकाल दिया, और स्वयं विचार के केंद्र पर अधिकार कर लिया। परंतु यह अधिकार देर तक न रह सका। कारण, लिखने का विचार केंद्र से दूर नहीं भागा था, और दूसरे ही क्षण उसने अपना अधिकार फिर से स्थापित कर लिया। इसी प्रकार बच्चों की चिल्लाहट ने भी एक बार बड़े बल के साथ ध्यान का केंद्र ले लिया।

सारांश यह कि हरएक मनोवृत्ति में एक ही साथ कई विचार रहा करते हैं; परंतु सबका बल बराबर नहीं होता। जिसका बल सबसे अधिक होता है, अर्थात् जो विचार ध्यान के केंद्र में रहता है, उसी के नाम से वह मनोवृत्ति कही जाती है। परंतु इन विचारों में बड़ा परिवर्तन होता रहता है। कभी केंद्र का विचार केंद्र ही में

रहता है, और दूरवाले विचारों के वल में परिवर्तन हो जाता है। कभी केंद्रवाले विचार को केंद्र-स्थान से हटाकर वहाँ पर कोई अन्य विचार आ जाता है। मन की दशा किसी अराजक देश के समान है। जहाँ पर जिसका अधिक वल हुआ, वही गद्दी पर बैठ गया, और अपने अनुकूल लोगों को उसने मंत्री, सदस्य, कोशाध्यक्ष आदि बना लिया। इन सभासदों में भी कभी किसी का बल अधिक हो गया, और कभी किसी का। फिर यदि इन सभासदों में से किसी ने या अन्य किसी ने देखा कि मेरा बल अधिक है, तो उसने गद्दी छीन ली, सभासद वैसे-के-वैसे ही बने रहे, या उनके अधिकारों में परिवर्तन हो गया, या कुछ निकाल अथवा बदल दिए गए, या सब-के-सब अलग कर दिए गए, और उनकी जगह पर दूसरे नियत किए गए।

अध्यापक के काम में सबसे बड़ी कठिनता यही है कि बच्चे के मन में एक ही साथ बहुत-से विचार आते हैं। कभी एक विचार का बल अधिक हो जाता है, कभी दूसरे का। परिणाम यह होता है कि बच्चे का मन जमकर किसी एक ही विचार पर नहीं लगता। तब कहते हैं कि अमुक बच्चे का ध्यान पढ़ने में नहीं जमता। इस दशा में अध्यापक का लक्ष्य यह होता है कि जिस विषय को वह पढ़ाना चाहता है, उसमें बच्चों की ऐसी रुचि पैदा कर दे कि उस रुचि के प्रभाव से बच्चों का ध्यान दूसरे विषय पर जा ही न सके। ऐसे अध्यापक का काम उस सेनापति के काम के समान होता है, जो शत्रु-सेना को दो ओर पहाड़ियों और तीसरी ओर जल से घिरे हुए स्थान में जाने के लिये विवश करता और चौथी ओर से उस पर स्वयं आक्रमण करता है। शत्रु को तब किसी ओर भागने का अवकाश नहीं रहता; इस दशा में सेनापति को विजय अवश्य प्राप्त होती है। इस सेनापति की चतुरता इतनी ही नहीं होती कि वह शत्रु-सेना को घिरे

हुए स्थान में ले जाता है, किंतु वह ऐसा उपाय भी करता है कि शत्रु-सेना स्वयं ही उस स्थान पर जाती है, और यह नहीं समझती कि उस स्थान पर उसका जाना उस सेनापति की चतुरता का परिणाम है। इसी प्रकार चतुर अध्यापक कभी बच्चों पर यह नहीं प्रकट करता कि मैं तुम्हें पाठ के विषय के सिवा अन्य विषय पर ध्यान न देने दूँगा; परंतु वह ऐसा उपाय करता है कि जिस विषय को वह चाहता है, उसके अलावा कोई भी दूसरा विषय बच्चे नहीं सोच सकते। वह उस विषय में बच्चों की इतनी रुचि पैदा कर देता है कि वे तीन ओर से घिर जाते हैं, और चौथी ओर से अध्यापक अभीष्ट विषय को बड़े उत्साह के साथ उपस्थित करता है। ऐसे पाठ का प्रभाव बच्चों के हृदय से आजन्म नहीं मिटता।

चेतना की उपमा नदी से दे ही चुके हैं। कल्पना कीजिए कि किसी नदी का पाट १०० हाथ है, और उस पाट की औसत गहराई १० हाथ। उसी नदी का पाट कुछ दूर आगे चलकर २५ हाथ रह जाता है। अब यहाँ की औसत गहराई कितनी होगी? बहाव की गति में क्या परिवर्तन होगा? इसी प्रकार किसी मनोवृत्ति का फैलाव जितना अधिक होगा, उसकी गंभीरता उतनी ही कम होगी। मन की धारा को समेटकर थोड़ी ही चौड़ाई में बहाइए, तो उसकी गहराई अगाध हो जायगी। सरल शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अन्य विषयों को रोककर केवल एक ही विषय पर चित्त जमाया जाय, तो वह विषय बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाता है। चित्त एकाग्र करने का यही अर्थ है; इसी 'चित्त-वृत्ति-निरोध' का नाम 'योग' है, इसी का नाम संकेंद्रण है, और इसी को ध्यान कहते हैं; इसी के साधनेवाले सच्चे योगी हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, इसी से मनुष्य पूरा मनुष्यत्व पाता है।

मनोवृत्तियों में तीन प्रकार की बातें रहा करती हैं—क्षोभ, ज्ञान और इच्छा । सुख, दुःख, संतोष, क्रोध, प्रेम, भय, प्यास आदि क्षोभ के विषय हैं, अर्थात् इनसे मन की ऐसी दशा हो जाती है कि मानो वह काँपने लगा हो । चीज़ों के देखने-सुनने, छूने-चखने और सूँघने से उनका जो हाल मालूम होता है, वह ज्ञान है । स्मरण, तर्क, भावना आदि भी ज्ञान ही के कारण हैं । इच्छा का अर्थ स्पष्ट है । इसमें कुछ-न-कुछ करने की प्रवृत्ति होती है । ध्यान, इरादा आदि इसके विषय हैं ।

यद्यपि क्षोभ, ज्ञान और इच्छा के अंश हर मनोवृत्ति में मिले रहते हैं, तथापि उनमें से किसी-न-किसी की प्रधानता रहती है; और उसी प्रधानता के अनुसार उस मनोवृत्ति को क्षोभ-वृत्ति, ज्ञान-वृत्ति या इच्छा-वृत्ति कहते हैं । क्षोभ, ज्ञान और इच्छा में परस्पर विरोध होता है, अर्थात् हरएक चाहता है कि मैं ही प्रधानता पाऊँ । कल्पना कीजिए कि कोई लड़का खेलते समय गिर पड़ता है, और उसके पैर में मोच आ जाती है । मोच के कारण उसे पीड़ा होती है (क्षोभ); वह उठकर देखता है, तो उसे मालूम होता है कि पैर में चोट आ गई है (ज्ञान); वह इच्छा करता है कि पीड़ा बंद करने के लिये पैर में दवा लगा दी जाय (इच्छा) । अध्यापक भी वहाँ खड़ा है । उस के मन में भी तीनों तरह की वृत्तियाँ आती हैं—मोच-खाया हुआ पैर देखकर (ज्ञान) उसे दया आती है, और दुख होता है (क्षोभ), और वह तत्क्षण ही पैर को रूमाल से कसकर बाँध देता है (इच्छा) । अन्य लोगों को भी पैर देखने से ज्ञान, सहानुभूति के कारण क्षोभ, और पैर के शीघ्र अच्छे हो जाने की आकांक्षा से इच्छा होती है । अब देखना चाहिए कि किसके मन में कौन-सी वृत्ति प्रधान है । गिरनेवाले लड़के के पैर में पीड़ा है, इसलिये उसके

मन में अन्य वृत्तियों के होते हुए भी क्षोभ की प्रधानता है। अध्यापक के मन में तीनों वृत्तियाँ हैं; परंतु प्रधानता इच्छा की है; क्योंकि वह चाहता है कि पैर शीघ्र ही अच्छा हो जाय, और रूमाल से पैर बाँधता है। अन्य लोगों के मन में यद्यपि क्षोभ और इच्छा के अंश हैं, तथापि ज्ञान की प्रधानता है. अर्थात् उनके लिये इतना जानना बड़े महत्त्व का है कि कौन गिरा, कैसे गिरा और कहाँ चोट लगी।

बच्चों के मन में प्रायः क्षोभ की प्रधानता रहती है; सयानों के मन में क्षोभ की मात्रा कम हो जाती है; विद्याभ्यासियों के मन में ज्ञान की अधिक मात्रा होती है; और दृढ़-चरित्र मनुष्यों के मन में इच्छा की बहुतायत होती है।

इससे स्पष्ट है कि स्मरण, भावना, अवधान, ध्यान, स्वभाव आदि जिन विषयों का वर्णन पुस्तकों में अलग-अलग अध्यायों में बाँट दिया जाता है, वे विषय यथार्थ में इतने अलग-अलग नहीं हैं। वे ऐसे नहीं हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, शिर और धड़ अलग-अलग होते हैं; किंतु ऐसे हैं, जैसे फूल में रंग, गंध, आकार आदि। यदि फूल का रंग अलग करके देखना चाहें, तो असंभव है; यदि उसकी गंध को उससे पृथक् करके सूँघना चाहें, तो असंभव है; यदि उसके आकार को अलग करके जानना चाहें, तो असंभव है। इसी प्रकार ज्ञान, क्षोभ और इच्छा के समूह ही का नाम मन है। मन से पृथक् करके कोई भी वृत्ति देखी नहीं जा सकती।

तो वैज्ञानिक लोग इन वृत्तियों का किस तरह पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते हैं? अवधान के द्वारा। यदि हम फूल के अन्य गुणों से हटाकर केवल उसके रंग पर मन जमावें, तो रंग का ज्ञान हमको होता है; यदि केवल उसकी गंध पर मन एकाग्र करें,

तो गंध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन की वृत्तियों पर भी अलग-अलग ध्यान जमाया जा सकता है और उनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि मानो उनसे और अन्य वृत्तियों से कोई संबंध ही नहीं। यथार्थ में तो मन की वृत्तियों में बड़ा संबंध है।

अध्याय ५

प्राकृतिक शक्ति

गाय, भैंस, मनुष्य आदि के बच्चों को पैदा होते ही माता के स्तनों से दूध पीना कौन सिखाता है ? चिड़ियों के बच्चों को उड़ने और घोंसला बनाने की शिक्षा कौन देता है ? मेंढकों को तैरने का अभ्यास कौन कराता है ? उत्तर में कहा जाता है कि इन प्राणियों में अपने शरीर की रक्षा के लिये ये शक्तियाँ स्वतःसिद्ध होती हैं, अर्थात् इन शक्तियों को साथ लेकर ही ये प्राणी पैदा होते हैं । इन्हें हम प्राकृतिक शक्तियाँ कहते हैं ।

क्या बच्चा यह समझकर दूध पीता है कि इससे मेरे शरीर की रक्षा होगी ? क्या छोटी गौरैया इस ज्ञान से अपने नन्हे-नन्हे पर हिलाकर उड़ने का अभ्यास करती है कि उससे खेतों, बाग़ों और घरों की सैर सुलभ हो जायगी ? ऐसा कोई भी ज्ञान उनको नहीं होता । उनके शरीर की बनावट ही ऐसी है, और उनको प्रकृति ने ऐसी शक्ति दे दी है कि बिना कुछ सोचे-समझे ही वे अपने शरीर की रक्षा के अनुकूल कार्य करने लगते हैं ।

अतः हम प्राकृतिक शक्ति का लक्षण इस प्रकार बतला सकते हैं— प्राकृतिक शक्ति ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा बिना पूर्व शिक्षा के इस प्रकार काम किया जाता है कि कोई नियत परिणाम निकले, परंतु इस परिणाम का ज्ञान पहले से न हो ।

प्राकृतिक शक्ति ही सब शक्तियों का बीज है ; इसी का विकास होने पर अन्य शक्तियाँ धीरे-धीरे आती रहती हैं । बीज को अच्छी पृथ्वी में बो दीजिए, समय पर खाद और जल डालिए, टेढ़ी-मेढ़ी

डालों को छाँट दीजिए, किसी अन्य वृक्ष की क़लम लाकर अपने वृक्ष में आरोपित कीजिए, और जिस तरह चाहिए, अपने वृक्ष को दृढ़, सुंदर और फलदार बनाइए; परंतु स्मरण रखिए, सब काम ठीक समय पर होना चाहिए। यदि आपके वृक्ष का तना टेढ़ा हो गया, और ठीक समय पर आपने उसे सीधा न किया, तो वह सदा टेढ़ा ही बना रहेगा; यदि आपने ठीक समय पर क़लम नहीं लगाई, तो फिर लगाना असंभव हो जायगा। यही दशा प्राकृतिक शक्ति की है। उससे ठीक समय पर काम लीजिए; यदि वह कुमार्ग पर जा रही है, तो उसे सुमार्ग पर लगाइए; यदि वह दूर करने के योग्य है, तो उसे दूर करके उसके स्थान में अच्छी शक्ति का आरोपण कीजिए।

उपर्युक्त बातों को अभी और स्पष्ट करना चाहिए। प्राकृतिक शक्तियों के दो विशेष स्वभाव या धर्म होते हैं—(१) अभ्यास या आदत के द्वारा उनका रुक जाना, बदल जाना या दृढ़ हो जाना, (२) थोड़े ही समय तक उनका पूर्ण बल रहना।

पहला नियम यह है कि जब कोई प्राणी प्राकृतिक शक्ति के वश में होकर किसी वस्तु पर कोई काम करता है, तो उस जाति की वस्तुओं पर उस प्राणी का पक्षपात हो जाता है, और फिर अन्य जाति की वस्तुओं पर वह प्राणी वही काम नहीं करता। चिड़िया अपना घोसला जहाँ एक बार बनाती है, वहीं बार-बार बनाती है; खरहा अपने बिल के एक ही कोने में मल-त्याग करता है; मनुष्य अपना घर, अपनी स्त्री, अपना धंधा चुनकर फिर इधर-उधर नहीं भटकता।

यह भी होता है कि दो विपरीत प्राकृतिक शक्तियों में जिसको विकास का अवसर पहले मिल जाता है, वह दूसरी शक्ति को दबा देती है। मनुष्य का बच्चा कुत्ते को देखकर डरता है, और उसे

प्यार भी करता है। ये दोनों विपरीत शक्तियाँ हैं। यदि पहली बार बच्चे को देखकर कुत्ता काटने दौड़े, और भयानक रूप धारण करे, तो बच्चे के मन में बहुत दिनों के लिये कुत्ते की ओर से घृणा हो जायगी ; और यदि कुत्ता उसे प्यार करने दे, तो उसकी ओर से बच्चे का भय जाता रहेगा।

दूसरा नियम यह है कि हरएक प्राकृतिक शक्ति के विकास का कोई समय नियत रहता है। उस समय से बहुत पहले और उसके बहुत पीछे वह शक्ति प्रबल नहीं रहती। यदि ठीक उसी समय उस शक्ति के विकास के अनुकूल सामग्री मिल गई, तो सब काम सिद्ध हो गया ; न मिली, तो निराशा-मात्र ही फल हुआ। शक्तियों के विकास का समय बहुत दिन तक नहीं रहता।

पैदा होने से कुछ दिन पीछे तक यदि बच्चे या बछड़े को थन से दूध न पिलाया जाय, तो उसकी थन से दूध खींचने की शक्ति नष्ट हो जाती है। कसरत करने, खेलने-कूदने, गाने-बजाने, सवारी करने आदि का अवसर लड़कपन में न दिया जाय, तो अधिक उमर हो जाने पर, सब सामग्री होते हुए भी, इन बातों से रुचि हटी ही रहती है।

अब विचार करना चाहिए कि इन प्राकृतिक शक्तियों से अध्यापक को क्या सहायता मिलती है।

यदि बच्चे में ये शक्तियाँ न हों, तो अध्यापक का कुछ भी वश उन पर नहीं चल सकता। आप घोड़े को पानी के पास ले जाइए, और उसका मुँह पानी में डुबो दीजिए; परंतु जब तक वह अपने आप न पिए, तब तक आप उसे पानी पिला नहीं सकते। आप बच्चे को स्कूल में ले जाइए, और किताबों, कापियों आदि से चाहे उसे ढक दीजिए; परंतु यदि वह अपने आप नहीं सीखता, तो आप उसे इष्ट शिक्षा नहीं दे सकते। काम का प्रारंभ बच्चे को स्वयं करना

होगा। कुछ भी प्रारंभ न करने से बुरा ही प्रारंभ अच्छा है; क्योंकि इस दशा में आप उसे प्रारंभ की बुराई दिखाकर उसके बदले उससे अच्छा काम करा सकते हैं।

मान लीजिए, आपके हाथ में कोई सुंदर खिलौना है, आपने उसे किसी बच्चे को दिखाया, और उसने हाथ बढ़ाकर खिलौने को छीन लेना चाहा। छीनने का स्वभाव बुरा है, परंतु बच्चे में ऐसी प्राकृतिक शक्ति है, जिसके द्वारा उसने छीनने के लिये हाथ बढ़ाया। खिलौना न देकर आपने हलके हाथ से बच्चे को एक थप्पड़ मार दिया; बच्चा रोने लगा; तब आपने समझाया कि छीनने से खिलौना नहीं मिल सकता, हाथ जोड़कर माँगो तो मिले। बच्चे ने हाथ जोड़कर खिलौना माँगा, और आपने दे दिया। इसे पाकर बच्चा प्रसन्न हुआ और हँसने लगा।

इस क्रिया से आपने बच्चे के मन में यह बात दृढ़ कर दी कि किसी के पास कोई वस्तु देखकर छीनने का इरादा करना बुरा है; उससे विनय-पूर्वक माँगना चाहिए। यह शिक्षा देने में आपको सफलता हुई। परंतु कैसे हुई? यदि बच्चा खिलौना लेने के लिये हाथ न बढ़ाता, तो आप क्या करते? यदि आप उपदेश के द्वारा यही शिक्षा देना चाहते, तो कभी आपको सफलता न होती। बच्चे ने बुरी रीति से अपनी प्राकृतिक शक्ति दिखाई, और आपने उसे शुद्ध करके अच्छी रीति सिखा दी।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की प्राकृतिक चेष्टाओं में अंतर होता है। इस कारण नहीं कि मनुष्य में प्राकृतिक शक्तियाँ कम होती हैं; किंतु इस कारण कि मनुष्य में बुद्धि अधिक होती है, और बुद्धि के द्वारा उसकी प्राकृतिक चेष्टाएँ संशोधित हो जाती हैं। मछली को मांस का टुकड़ा जहाँ कहीं मिलेगा, वह मुँह में डाल लेगी, चाहे वह बंसी के काँटे ही में क्यों न हो; परंतु मनुष्य हर जगह पर

रोटी नहीं खा लेगा, वह शत्रु-मित्र का, शुद्धि-अशुद्धि का, और समय-कुसमय का विचार करेगा। अपना खाद्य पदार्थ ले लेने और खा लेने की चेष्टा मछली और मनुष्य दोनों करते हैं; परंतु मनुष्य में अधिक बुद्धि होने के कारण आँखें बंद करके काम करने की आदत नहीं होती।

अब हम कुछ प्राकृतिक शक्तियों का विचार अलग-अलग करेंगे, जिनके द्वारा अध्यापक लोग बच्चों को सरलता से शिक्षा दे सकते हैं—

१. जिज्ञासा—जानने की इच्छा। यह प्रबल प्राकृतिक शक्ति है। जो वस्तु इंद्रियों को आकर्षित करती है, विशेषतः यदि वह तेज़, चमकीली, रंगीन, चलती हुई और आश्चर्यकारक हो, तो उसकी ओर बच्चों का ध्यान बहुत जाता है। पदार्थ-पाठ और दस्तकारी की शिक्षा पर इसीलिये आजकल ज़ोर दिया जाता है कि इनमें बच्चे चीज़ों को छूते हैं, उठाते हैं, देखते हैं, और इस कारण उन चीज़ों के बारे में जो कुछ सीखते हैं, उसे कभी भूल नहीं सकते। यह इंद्रिय-संबंधी जिज्ञासा हुई।

बुद्ध्यात्मक जिज्ञासा में बाहरी वस्तुओं के देखने-सुनने आदि से कोई मतलब नहीं, किंतु कार्य-कारण आदि का संबंध ढूँढ़ने, धर्म-संबंधी और ज्ञान-संबंधी बातों पर विचार करने आदि का काम होता है। इन बातों का बीज भी यदि लड़कपन या युवा-वस्था में नहीं डाला गया, तो उतरती उमर में इनका आना अत्यंत कठिन है।

दोनों प्रकार की जिज्ञासाओं में अध्यापक का मुख्य काम यह है कि अनुकूल पदार्थों और बातों का प्रवेश करके बच्चों का ध्यान उन पर आकृष्ट कर दे। तब बच्चों को स्वयं उन पदार्थों या बातों के विषय में अधिकाधिक जानने की इच्छा पैदा होगी।

यदि इस अवसर पर अध्यापक बुद्धिमत्ता से काम लेगा, तो विषय बहुत ही सरल हो जायगा।

२. अनुकरण—मनुष्य में यह शक्ति सब प्राणियों से अधिक होती है। बच्चा जैसी संगति में रहता है, वैसा ही प्रभाव उस पर पड़ता है। हमारी भाषाएँ, हमारे कला-कौशल, हमारी विद्याएँ, हमारी संस्थाएँ, हमारे रीति-रिवाज, वक्ता-क्रता आदि सब अनुकरण ही के फल हैं। प्रायः देखा गया है कि एक कुटुंब के सब आदमियों के हस्ताक्षर एक ही तरह के होते हैं, और चाल भी प्रायः एक ही तरह की। उन आदमियों की भी बातें सुनने में आती हैं, जिन्हें बचपन में भेड़िए उठा ले गए थे। वे भेड़ियों के बीच रहे, और उन्हीं का अनुकरण करके वैसे ही हो गए—हाथों-पैरों से चलना, कच्चा मांस खाना, ऊँ-ऊँ के सिवा अन्य शब्द का उच्चारण न कर सकना, मनुष्य से दूर भागना, जंगली जीवों का शिकार करना आदि उनके धर्म हो गए।

अनुकरण का प्रभाव बोली पर बहुत अधिक होता है। एक ही स्थान के निवासी एक ही प्रकार का उच्चारण करते हैं। कहते हैं, जो लोग जन्म से गूँगे और बहरे होते हैं, वे यथार्थ में बहरे ही होते हैं, उनके गले या जिह्वा आदि शब्दोच्चारक यंत्रों में कोई बुराई नहीं होती। परंतु शब्द न सुन सकने के कारण उनका अनुकरण नहीं कर सकते, और उनमें मूकता आ जाती है।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि बच्चे अपने अध्यापक का अनुकरण बहुत करते हैं। इसलिये अध्यापकको आदर्श-योग्य होना चाहिए—समय पर आना, साफ़-सुथरे रहना, स्पष्ट और शुद्ध बोलना तथा लिखना, अच्छे आचरण रखना आदि जितने सद्गुण हैं, सब अध्यापक में होने चाहिए; नहीं तो उसकी बुराइयों का अनुकरण करके बच्चे भी बुरे बन जायँगे।

स्कूल की प्रणाली ठीक रखना भी आवश्यक है; क्योंकि छोटे बच्चे बड़े बच्चों का अनुकरण करते हैं। इसी विचार से दुष्ट बच्चों को दंड भी दिया जाता है, जिससे अन्य बच्चे उनका अनुकरण करने में संकोच करें।

स्पर्धा, ईर्षा आदि भी अनुकरण ही से उत्पन्न होती हैं। जो काम कोई आदमी जिस तरह करता है, उस काम के उसी तरह करने की चेष्टा को अनुकरण कहते हैं। साधारण अनुकरण में यह इच्छा नहीं होती कि जो कुशलता पहले आदमी ने दिखलाई है वही दूसरा भी दिखलावे। परंतु जब यह इच्छा क्रमशः बढ़ जाती है, तब उस शक्ति को स्पर्धा कहते हैं। स्पर्धा में आदमी को यह इच्छा रहती है कि जो काम अन्य लोग करते हैं, वही मैं भी करूँ, और उसका परिणाम औरों के परिणाम से किसी तरह बुरा या कम न हो, वरन् जहाँ तक हो सके उससे अच्छा हो। यही शक्ति जब इतनी प्रबल हो जाती है, अर्थात् आदमी के मन में जब यह इच्छा पैदा होती है कि मेरा महत्त्व औरों से अधिक हो जाय, तब उसे औरों की उन्नति अच्छी नहीं लगती, और अपनी उन्नति न कर सकने पर वह औरों की अवनति चाहने लगता है। इस दशा में हम कहते हैं कि इस आदमी को ईर्षा पैदा हुई है।

सारांश यह कि स्पर्धा और ईर्षा भी अनुकरण के ही रूप हैं। जहाँ तक अपनी उन्नति करने की इच्छा रहे, और उस उन्नति के लिये उचित साधन काम में लाए जायँ वहाँ तक कोई हानि नहीं; परंतु अपना महत्त्व बढ़ाने के लिये जब दूसरों की हानि ताकी जाती है, तब वह काम बुरा कहा जाता है।

३. स्वत्व—अपने रुपयों-पैसों, अपने कपड़ों, अपने घर, और अपने कुटुंब के लिये मनुष्य का कितना बड़ा पक्षपात होता है।

जो वस्तु अपनी है, उसकी रक्षा के लिये लोग जान देते हैं; किसी वस्तु को 'अपनाने' के लिये लोग भगीरथ-प्रयत्न करते हैं। त्यागी संन्यासियों का भी 'ममत्व' अपने-अपने दंड-कमंडलु और कोपीन-अचले पर होता है। यदि संसार की संपूर्ण संपदा पंचायती कर दी जाय, तो कोई भी मनुष्य जी-जान से परिश्रम नहीं करेगा। 'साझे की खेती' में हिस्सेदारों की जो लापरवाही होती है, वह सभी जानते हैं। इससे स्पष्ट है कि संसार की स्थिति के लिये यह शक्ति प्रधान स्तंभ है।

जन्म से दूसरे ही वर्ष यह प्राकृतिक शक्ति प्रकट होने लगती है, और बच्चे की ममता अपनी चीज़ों पर अधिकाधिक होती जाती है। शिक्षा में इस शक्ति से बहुत कुछ काम लिया जा सकता है। घर पर बच्चा अपने खिलौनों, गुड़ियों, कपड़ों आदि को यत्न-पूर्वक साफ़-सुथरा रक्खे, हर वस्तु के लिये स्थान नियत रक्खे, और उनकी रक्षा का उपाय करे। स्कूल में शिक्षा-संबंधी वस्तुओं के एकत्र करने में बच्चों को यत्न करना चाहिए। तरह-तरह की मिट्टी, कंकड़, पत्थरों के नमूने इकट्ठा करना, भिन्न-भिन्न बनावटों की पत्तियों और फूलों का संग्रह करना, छोटे-छोटे कीड़ों, मकोड़ों, तितलियों आदि के नमूने लाना, अनेक देशों के टिकट, सिक्के आदि एकत्र करना, ऐतिहासिक अनुसंधान के लिये आवश्यक सामग्री का ढूँढ़ना आदि ऐसे काम हैं, जिनमें स्वत्व-शक्ति का प्रयोग और अभ्यास कराया जा सकता है। क़लम, दावात, पुस्तक आदि वस्तुओं को साफ़-सुथरा और सुरक्षित रखना और अपनी प्रतिष्ठा, मर्यादा और मान-वृद्धि के लिये प्रयत्न करना भी इसी प्राकृतिक शक्ति पर अवलंबित है।

४. विधायकता—विचार करके देखिए, तो ज्ञात होगा कि आठ-दस वर्ष की अवस्था तक बच्चा सिवा चीज़ों के तोड़ने-फोड़ने और फिर उन्हें जोड़ने-जाड़ने के और कुछ नहीं करता। आप हज़ार

उपाय करें कि बच्चा चुपचाप बैठा रहे, कोई चीज़ न छुए, परंतु वह न मानेगा, अवकाश पाकर चीज़ों को उठावेगा, छुएगा, खोलेगा, बंद करेगा, बजावेगा, चाटेगा, फेंकेगा, तोड़ेगा, फिर बनावेगा, उन पर हाथ फेरेगा, चढ़ेगा, उन्हें अपने सिर पर रक्खेगा, नापेगा, और न-जाने क्या-क्या करेगा। इन सब कामों का मतलब क्या है? मतलब यही है कि बच्चा जिन चीज़ों के बीच रहता है, उनके संपूर्ण लक्षण और धर्म जान ले, उनके आकार और वज़न आदि का अंदाज़ा कर ले, उनकी बनावट से परिचित हो जाय। लोक-दृष्टि से बनाना और बिगाड़ना परस्पर विरुद्ध बातें हैं, परंतु बच्चे के लिये उनका महत्व समान है; क्योंकि दोनों ही दशाओं में वस्तुओं के वर्तमान रूप में कोई-न-कोई परिवर्तन पैदा किया जाता है।

अब प्रत्यक्ष है कि बच्चों को जितनी ही चीज़ों के छूने, उठाने, देखने, तोड़ने, बनाने आदि का मौक़ा मिलेगा, उतनी ही चीज़ों से उसे पूरा परिचय प्राप्त होगा। जिन चीज़ों का ज्ञान उसे केवल पुस्तक द्वारा होगा, वह सदा कच्चा बना रहेगा। इसी कारण आजकल शिक्षा-शास्त्र में यथार्थ वस्तुओं के रखने का प्रयत्न किया जाता है। उन स्कूलों का अभाग्य समझना चाहिए, जिनमें तराज़ू और सेर, छटाँक आदि बाँट न हों; गज़, फुट, फ़ीता आदि नापने के सामान न हों; छुरी, कतरनी आदि काग़ज़ काटने की सामग्री न हो; प्रकृति-निरीक्षण के लिये दस-बीस फूल-पत्ते न मिल जाते हों; और बच्चों को विविध वस्तुओं के छूने, उठाने, देखने आदि का मौक़ा न दिया जाता हो।

इसी प्राकृतिक शक्ति से लाभ उठाने के लिये बड़े-बड़े स्कूलों में मिट्टी के खिलौने बनवाए जाते हैं; लकड़ी का काम सिखाया जाता है; काग़ज़ काटकर उससे अनेक चीज़ों के नमूने तैयार कराए जाते हैं; छोटे बच्चों को 'किंडर्गार्टन'-विधि से शिक्षा दी जाती है; कमरा

और मैदान आदि बच्चों ही से नपवाकर उनके नक़्शे बनवाए जाते हैं; भूगोल और इतिहास की शिक्षा के लिये छोटे-छोटे 'अजायब-घर' बनाए जाते हैं; और भी ऐसे ही अनेक काम कराए जाते हैं, जिनसे बच्चों को अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

संस्कृत का एक प्रचलित श्लोक हमारे कथन की पुष्टि करता है—

"पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥"

अर्थात् पोथी में लिखी हुई विद्या और दूसरे के हाथ में गया हुआ धन उस समय अपने काम नहीं आते, जब कार्य अर्थात् उनके प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। सत्य है, अगर प्रयोग द्वारा विद्या दृढ़ की जाय, तो वह हर समय काम देती है।

५. भय—इससे लोग बड़े-बड़े काम लेते हैं। बहुतेरे अधर्मी आदमी केवल राजदंड के भय से नीति पर चलते हैं। बच्चे घर पर 'हौवा' से डरकर माता-पिता की आज्ञा मानते हैं। स्कूल में दंड का भय रहता है; परंतु दंड उसी समय देना चाहिए, जब अन्य उपाय काम न दें, और वह भी केवल उतना ही, जितने से काम चल जाय।

६. प्रेम—जिनसे प्रेम किया जाता है, उन्हें प्रसन्न रखने के लिये लोग बड़ा प्रयत्न करते हैं। जो अध्यापक अपने छात्रों के मन में अपना प्रेम उत्पन्न कर देते हैं, वे उनसे अधिक काम ले सकते हैं। परंतु इस बात पर ध्यान रहना आवश्यक है कि प्रेम के कारण बच्चे अध्यापक को तुच्छ दृष्टि से न देखने लगें।

अध्याय ६

विचार-संबंध

हम देख चुके हैं कि चेतना एक नदी की धारा के समान है, और नाना प्रकार की मनोवृत्तियाँ लहरों के समान हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि मनोवृत्तियाँ स्थायी नहीं होतीं ; एक क्षण में जैसी मनोवृत्ति होती है, दूसरे क्षण में वैसी नहीं रहती, उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। यह भी देखा जा चुका है कि हरएक मनोवृत्ति में बहुत-से भाव, विचार या अंश मिले रहते हैं, किसी भाव को ध्यान का केंद्र-स्थान मिलता है और किसी को केंद्र से दूर स्थान। जिस भाव का जितना बल होता है, उसे उतना ही अधिक मौक़ा केंद्र में आने के लिये मिलता है। अब इस अध्याय में यह विचार करना चाहिए कि मनोवृत्तियाँ किस प्रकार परस्पर संबंध रखती हैं, और भिन्न-भिन्न भाव किस प्रकार बली या निर्बल होकर चेतना के केंद्र में आते हैं। अध्याय ४ के उसी पुराने उदाहरण में देखना चाहिए कि एक गुलाब के फूल को देखकर अनेक भाव चित्त में क्योंकर पैदा हुए। फूल का संबंध पेड़ से है, क्योंकि पेड़ ही में फूल पैदा होता है, अर्थात् फूल का कारण पेड़ है ; कार्य के देखने से कारण का स्मरण हुआ। फूल का संबंध इतर से है, क्योंकि इतर फूल ही से बनाया जाता है, अर्थात् फूल कारण है और इतर कार्य ; कारण के देखने से कार्य का स्मरण हुआ। गुलाब के फूल का संबंध कमल के फूल से है, क्योंकि दोनों फूल हैं, दोनों सुंदर और रंग में प्रायः समान होते हैं; एक वस्तु को देखकर उसी के समान दूसरी वस्तु का स्मरण

आया। यह भी संभव है कि गुलाब का फूल देखकर किसी को लहसन का स्मरण हो आवे, क्योंकि गुलाब में उत्तम गंध है, और लहसन में बुरी गंध; सुगंध और दुर्गंध परस्पर विरुद्ध या विपरीत हैं। मान लीजिए कि किसी समय गुलाब के फूल को देखकर आपके किसी मित्र ने एक दोहा पढ़ा था—'जिनने दिए गुलाब के इन डारन ये फूल'। उस समय वह मित्र और आप शतरंज खेल रहे थे। आपके पैर में कोई घाव था, जिससे आपको चलने में पीड़ा होती थी। अब इस बार इस नवीन गुलाब के फूल को देखकर आपके मन में उसी पुराने दृश्य का उदय होगा, अर्थात् दोहे का, उस मित्र के साथ शतरंज खेलने का, और पैर में घाव होने का स्मरण आएगा। यद्यपि फूल, शतरंज और घाव में कोई संबंध नहीं है, तथापि पूर्व अनुभव जैसे का तैसा स्मरण में आएगा; अर्थात् पूर्व अनुभव में गुलाब के भाव के साथ-साथ या उसके पीछे जो बातें हुईं या जो भाव चित्त में उठे, उन्हीं बातों या भावों का स्मरण उसी क्रम से इस बार भी होगा। एक संभावना और भी है। गुलाब के फूल को देखकर संगीत का भी भाव उत्पन्न हो सकता है; क्योंकि गुलाब की गंध से सूँघने की इंद्रिय को प्रसन्नता होती है, और संगीत से सुनने की इंद्रिय को, दोनों मीठे कहे जा सकते हैं। यह भी एक प्रकार की समानता ही है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि चित्त के भावों में अनेक प्रकार से संबंध हो सकता है, अर्थात्—

(१) कार्य-कारण-संबंध—कार्य से कारण का संकेत मिलना।

(२) कारण-कार्य-संबंध—कारण से कार्य का संकेत मिलना।

(३) समानता या सादृश्य—एक वस्तु से किसी गुण में उसी के समान दूसरी वस्तु का संकेत मिलना।

(४) विरोध, विपरीतता या वैधर्म्य—एक वस्तु से किसी दूसरी ऐसी वस्तु का संकेत मिलना, जिसमें कोई गुण पहली वस्तु से विपरीत हो ।

(५) अव्यवधानता—अर्थात् किसी समय जो विचार जिस क्रम से मन में उत्पन्न हुए, उसी क्रम से उन्हीं विचारों का दूसरे समय उत्पन्न होना, और बीच में व्यवधान (अंतर या आड़) का न पड़ना ।

विचारों का संबंध तो मालूम हुआ, परंतु उनके बल का निर्णय किस प्रकार होता है ? यह तो ज्ञात हुआ कि गुलाब के फूल को देखकर उसके पेड़, इतर, कमल आदि का स्मरण होता है; परंतु इसका क्या कारण है कि सब आदमियों को एक ही वस्तु का स्मरण नहीं होता, और एक ही आदमी को सब मौक़ों पर उसी नियत वस्तु का स्मरण नहीं होता ?

इसके कई कारण हैं—

१. अभ्यास या आदत—जिसको जिस तरह का अभ्यास हो जाता है, जो कोई जिस तरह का काम करता है, उसी के अनुकूल नया भाव उसके मन में आता है । 'कोश' शब्द के सुनने से सबके मन में एक ही भाव नहीं पैदा होगा ; किसी पंडित के मन में ऐसी पुस्तक का भाव पैदा होगा, जिसमें शब्दों के अर्थ दिए रहते हैं, जैसे अमर-कोश, हिंदी-कोश आदि । इसी शब्द के सुनने से किसी कोशाध्यक्ष को अमर-कोश का स्मरण नहीं होगा, किंतु अपने कोश (ख़ज़ाने) का स्मरण आएगा । यदि यही शब्द किसी प्रकृति-निरीक्षक विद्यार्थी के सामने कहा जाय, तो उसको रेशम के कोश का स्मरण होगा या उस कोश का, जिसके भीतर से फोड़कर रंगदार तितली निकलती है । ऊपर के उदाहरणों में जिसको जिस बात का अधिक अभ्यास रहता है,

उसको उसी के अनुसार विचार का संकेत मिलता है; पंडित को ख़ज़ाने का ज्ञान होने पर भी स्वभावतः पुस्तक ही का स्मरण आता है।

२. प्रबलता—यथार्थ अनुभव में जो भाव बड़ी प्रबलता के साथ आता है, उस भाव का पुनरुज्जीवन बड़ी सरलता के साथ होता है; उसका प्रभाव चित्त पर इतना गहरा पड़ जाता है कि उसके सामने उसके प्रतिस्पर्धी भावों को मौक़ा नहीं मिलता। मेरे एक मित्र ने लड़कपन में किसी डॉक्टर को एक आदमी के पैर में नश्तर लगाते देखा था; आधा पैर सड़ गया था, और यद्यपि डॉक्टर ने बड़े धैर्य के साथ अपना काम किया, तथापि रक्त और मवाद का प्रवाह देखकर मेरे मित्र को मूर्च्छा-सी आ गई। तब से नश्तर का नाम सुनते ही उनके मन में उसी दृश्य का भाव उदय होता है। यद्यपि तब से उन्होंने नश्तर के अनेक दृश्य देखे, तथापि उस समय की भाव-प्रबलता से अन्य दृश्य भूल जाते हैं। स्वयं मैंने कमल के फूल हज़ारों बार देखे होंगे, परंतु कमल का नाम सुनते ही मेरे मन में वही दृश्य आ जाता है, जब कि मेरे पिताजी के एक मित्र ने मुझे एक बार एक हज़ारा कमल (बहुत भारी फूल) दिया था। उस हज़ारा फूल का इतना प्रबल प्रभाव मेरे चित्त पर पड़ा कि उसके सामने कमल देखने के और अनेकों दृश्य दब जाते हैं। इस प्रकार के कई अनुभव प्रायः हरएक आदमी को होते हैं, जो सोचने पर प्रकट होंगे।

३. नवीनता—तुलसीदासजी के ग्रंथों में रामचरितमानस सबसे बड़ा और उत्कृष्ट ग्रंथ है, और अपनी भाव-प्रबलता के कारण अन्य भावों को दबाकर प्रायः अपना ही भाव उदय करता है। परंतु परसों मैं तुलसी-कृत बरवा-रामायण पढ़ता था, इसलिये तुलसीदास का नाम सुनते ही मेरे मन में बरवा-रामायण का ही भाव

उदय हुआ। मेरी लड़की अपने मामा के घर कोई पंद्रह दिन रही ; वहाँ उनके पास घंटों बैठती और बातें करती थी । वहाँ से वह घर गई, और कोई पंद्रह ही दिन घर पर रही ; फिर घर से प्रयाग आते समय मार्ग में उसके मामा स्टेशन पर मिले। दो-तीन दिन के बाद उस लड़की से मैंने पूछा कि तुम्हें अपने मामा का स्मरण है ? उसने उत्तर दिया कि हाँ, वे ही मामा हैं, जो स्टेशन पर रेल के पास खड़े थे। उनके घर पर की घंटों की बैठक का स्मरण लड़की को न हुआ, किंतु स्टेशन पर की एक क्षण की मुलाक़ात याद रही; क्योंकि वह घटना नवीन थी । लड़की की उमर उस समय कोई ढाई वर्ष की थी।

४. भाव-सामंजस्य—सुखी आदमी को संसार सुखमय दीखता है और दुखी को दुःखमय । जैसा भाव, अंतःक्षोभ या मनोविकार जिस समय होता है, उसी के अनुकूल चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। एक ही वस्तु हर्ष के समय एक प्रकार के भाव और शोक के समय दूसरे प्रकार के भाव पैदा करती है। किसी का लड़का बीमार होता है, तो उसे गाना-बजाना, हँसना अच्छा नहीं लगता; उसके मन में मृत्यु, श्मशान, अपुत्रता, धन-धान्य का व्यर्थ-भाव आदि विचार अड्डा कर लेते हैं, इसी को अनिष्ट-चिंता कहते हैं। अपने हृदय-प्रिय के वियोग में ऐसी दशा होती है कि—

कुवलय-विपिन कुंत-बन-सरिसा ; बारिद तप्त तेल जनु बरिसा।
जेहि तरु रहौं, करै सो पीरा ; उरग-स्वास-सम त्रिविध समीरा।

वही मनुष्य सुख की अवस्था में उन्हीं पदार्थों से असीम आनंद प्राप्त करता है; वही संगीत, वही हास्य, वही कमल-वन उसके मन में बस-से जाते हैं। पद्माकर कवि ने सत्य कहा है—

'औरै रस, औरै रीति, औरै राग, औरै रंग,
औरै तन, औरै मन, औरै बन ह्वै गए'।

इस प्रकार जिस भाव का अभ्यास अधिक रहता है, जिस भाव का अनुभव वड़ी प्रबलता से हुआ है, जो भाव नवीन है, और जो भाव किसी समय अपने अंतःकरण की वृत्ति के अनुकूल हो, उसी भाव के पुनः उज्जीवित होने की संभावना अधिक होती है। ऊपर लिखे हुए गुणों में से जितने ही अधिक गुण किसी भाव में होते हैं, उतनी ही अधिक संभावना उस भाव के उदय होने के लिये होती है; और यदि हम किसी प्रकार निश्चय कर सकें कि अमुक भाव में उपर्युक्त तीन या चार गुण हैं, तो हम प्रायः निश्चय के साथ कह सकते हैं कि इसी भाव का उदय होगा।

यह सब निश्चय होने पर भी मनोवृत्तियों का मामला इतना नाज़ुक होता है कि कभी-कभी समझ में नहीं आता। तथापि ये साधारण नियम हैं, और इन नियमों के अनुसार कार्य करने से अध्यापक को शिक्षा के काम में बड़ी सहायता मिलती है।

उपर्युक्त नियमों का प्रयोग शिक्षा में बहुत अच्छी तरह किया जा सकता है। नवीन विद्या का सीखना पुराने भावों के साथ नए भावों का मिला लेना, अर्थात् उनमें संबंध पैदा कर लेना, है। ज्ञात के साथ-साथ अज्ञात का थोड़ा-थोड़ा संबंध करते-करते अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है। जैसे बच्चे को रेल के किराए का ज्ञान हो, तो उसी की समानता दिखाकर धीरे-धीरे साधारण और चक्रवृद्धि-ब्याज का भी ज्ञान कराया जा सकता है।

अभ्यास कराते समय अध्यापक काले तख़्ते पर लिखता है, मुँह से कहता है, बच्चों से लिखाता है, उनके मुँह से कहलाता है, प्रश्न करता है, उत्तर लेता है, महत्त्व की बातों को दोहराता है, उन पर बच्चों का ध्यान आकर्षित करता है, नियम बनवाता है, उदाहरण देता है, और बच्चों से बनवाता है, समय-समय पर ि को दोहराता है, परीक्षा लेता है,

नमूनों आदि को दिखाकर बच्चों की भावनाएँ पक्की कराता है। इन सब बातों का अभिप्राय यह है कि सुनने से कान के द्वारा, देखने से आँखों के द्वारा, लिखने और चीज़ों के छूने, उठाने आदि से हाथ के द्वारा, जहाँ संभव है वहाँ चखने और सूँघने आदि से भी, नवीन बात का ज्ञान बच्चों के मन में हो जाय। इन बातों से भाव-प्रबलता बढ़ती है, अर्थात् नया ज्ञान इतने ज़ोर के साथ पुराने ज्ञान से संबंध कर लेता है कि फिर नहीं भूल सकता। भाव-प्रबलता के लिये, जितनी इंद्रियों के द्वारा और जितने साधनों से हो सके, काम लेना चाहिए।

बार-बार कहने, लिखने और दोहराने से अभ्यास बढ़ता है, और भाव में नवीनता बनी रहती है। भाव-सामंजस्य के लिये अध्यापक को बहुत मौक़ा नहीं मिलता, तथापि उसे यह देख लेना आवश्यक है कि बच्चों को कोई शारीरिक कष्ट न मिले ; जैसे कमरे की हवा साफ़ और ताज़ी बनी रहे, प्यास लगने पर पानी मिले, एक ही साथ बहुत देर तक एक ही तरह का काम न कराया जाय, क्रोध और हठ करने का मौक़ा बच्चों को न दिया जाय।

चूँकि नवीन ज्ञान का पैदा करना संबंध पर अवलंबित है, इसलिये नवीन बात का संबंध पुरानी बातों के साथ, जितने प्रकार से हो सके, स्थापित करना चाहिए। कारण-कार्य-संबंध, सादृश्य, विरोध आदि सभी प्रकार के संबंधों से काम लेना चाहिए। किसी बात का जितना ही अधिक संबंध अन्य बातों के साथ कर लिया जायगा, उतना ही अधिक मौक़ा उस बात के स्मरण रखने का मिलेगा।

अध्याय ७

अंतर्बोध

पिछले अध्याय में कहा गया है कि नए ज्ञान के सीखने में पुराने ज्ञान का संबंध नए ज्ञान के साथ कर लिया जाता है। इस विषय में एक महत्त्व की बात कहने के योग्य है, जिस पर अध्यापकों का ध्यान प्रायः नहीं जाता। वह बात यह है कि किसी अज्ञात बात का संबंध ज्ञात बातों के साथ सब लोग बराबर नहीं कर सकते; क्योंकि सबकी ज्ञात बातें बराबर नहीं होतीं। नदी भरी हुई है, परंतु जिसके पास जितना बड़ा पात्र है, उतना ही जल उसे मिल सकता है। कोई विद्वान् व्याख्यान देता है, तो सब लोग उससे बराबर ही लाभ नहीं उठाते; जिसका जितना ज्ञान है, वह उसी के अनुसार नवीन भावों को ले सकता है; अधिक नवीन भाव ग्रहण करने के लिये अधिक पूर्ववर्ती भाव होने चाहिए। अध्यापक लोग प्रायः समझते हैं कि उनके व्याख्यान में मृतक को जीवन देने की शक्ति है, और अमुक कक्षा के विद्यार्थी बड़े मंदमति हैं, जो उनके समझाने से भी विषय को नहीं समझते। मंदमति तो वे अवश्य हैं; परंतु वही व्याख्यान-अमृत यदि उन्हें एक-एक बूँद दिया जाय, तो वे उसे हज़म भी कर सकेंगे और उससे लाभ भी उठा सकेंगे।

यथार्थ बात यह है कि मनुष्य को जिस समय जितना ज्ञान होता है, उसी के अनुसार वह नवीन बातों का ज्ञान धारण कर सकता है। मान लीजिए कि किसी मनुष्य को आध सेर अन्न हज़म करने की शक्ति है। उसे आप आध सेर तक दीजिए, तो वह हज़म कर सकेगा, और उससे लाभ उठा सकेगा, अर्थात् वह अन्न होकर

उसके शरीर का ही अंश हो जायगा। यदि आप उसे तीन पाव अन्न दें, तो क्या परिणाम होगा? अथवा अन्न के स्थान में उसे आध सेर घी पिलाइए, जो कि देर में हज़म होता है, तो उसका परिणाम क्या होगा? इसी प्रकार तीसरी कक्षा के बालक को आप रेखा-गणित के तत्त्व पढ़ाइए, तो क्या परिणाम होगा, या कुली को उपनिषदों का रहस्य पढ़ाइए, तो उससे उसे क्या लाभ होगा?

पुराने ज्ञान का नाम है अंतर्बोध। नवीन बातों के उन्हीं अंशों का संबंध किसी के मन में जम सकता है, जिनसे संबंध करने के योग्य सामग्री अंतर्बोध में रहती है। किसी सुंदर रंगीन चित्र को देख-कर छोटा बच्चा उसकी रंगीनी ही पर मुग्ध होगा, उसके लिये चित्र का अस्तित्व केवल रंग के लिये है। उसी चित्र को देखकर सयाना लड़का हाथ, पाँव, मुँह आदि का सामंजस्य निकालेगा, उसके लिये चित्र में और कुछ नहीं, परंतु वही चित्र किसी रसिक को दिखाइए, तो उसे चित्र में अनेक प्रकार के भाव दिखाई देंगे। इसलिये यह कहना अनुचित नहीं कि अंतर्बोध के अनुसार नई बातों में परिवर्तन होता है।

अंतर्बोध से नई बातों में ही परिवर्तन नहीं होता, किंतु नई बातों से अंतर्बोध में भी परिवर्तन होता है। जिस मनुष्य को अभी तक यही मालूम था कि चित्र में अंगों की बनावट ही प्रधान है, और उसे अब चित्र में सुख-दुःख, प्रेम-क्रोध का भी भाव दिखाया गया, तो उसका अंतर्बोध बढ़ गया, चित्रों की परीक्षा में सुख-दुःख आदि भावों का देखना भी उसके अंतर्बोध का एक भाग हो गया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों नए ज्ञान का संबंध पुराने ज्ञान से होता जाता है; त्यों-त्यों नया ज्ञान भी पुराने में मिलता जाता है, और उससे भी आगे के ज्ञान के उपार्जन का कारण होता है। ज्ञान-वृद्धि और शिक्षा का यही रहस्य है, अनुभव की यही कुंजी है।

उपर्युक्त वर्णन से तो स्पष्ट ही है कि जितना ही अधिक ज्ञान-भांडार जिसके पास होगा, जितने ही अधिक भाव जिसके मन में होंगे, वह उतना ही अधिक अनुभवी, चतुर और विद्वान् होगा। भावों की भरती शिक्षा का आवश्यक अंग है, और अध्यापक तथा माता-पिता का धर्म है कि बच्चों के मन में भावों का समूह और ज्ञान का भांडार भरें; परंतु जैसे तकिया में रुई ठूँस-ठूँसकर भरी जाती है, उस तरह मन में भाव नहीं भरे जा सकते। मन एक भारी राज-दरबार है, जहाँ कोई भी अपरिचित भाव प्रवेश नहीं कर सकता। यदि कोई भाव वहाँ जाना चाहे, तो किसी की सिफ़ारिश लेकर जाय, दरबारियों में से कोई उसे जानता अवश्य हो। यदि ऐसा नहीं करेगा, तो फाटक ही पर से कान पकड़कर निकाल दिया जायगा। जब एक बार उस दरबार में प्रवेश हो गया, तो वह भाव वहाँ रहे, जितने दरबारियों से हो सके परिचय और प्रेम प्राप्त करे, और अपना अड्डा जमा ले। फिर वह भी दरबारी समझा जायगा, और उसे भी नए भावों की सिफ़ारिश करने और दरबार में उन्हें बुलाने का अधिकार हो जायगा। मन-दरबार में भाव-दरबारियों की संख्या सदा बढ़ती ही रहती है।

भावों का राशीकरण भी एक आवश्यक बात है। जैसे दरबार में मनुष्यों का राशीकरण होता है, अर्थात् कोई दीवानी-विभाग में काम करते हैं, कोई फ़ौजदारी-विभाग में, कोई माल-विभाग में, कोई शिक्षा-विभाग में और कोई स्वास्थ्य-विभाग में, वैसे ही कोई भाव आत्मरक्षा-संबंधी होते हैं, कोई समाज-संबंधी, कोई इतिहास-संबंधी, कोई भूगोल-संबंधी आदि। मन को भेड़िया-धसान मेला नहीं बनाना चाहिए, किंतु सुव्यवस्थित राज-दरबार ही रखना चाहिए। मेले में बहुतेरे लोग खो जाते हैं, क्योंकि अपनी राशि में, अपनी समाज में नहीं रहते, और अन्य राशि या समाज-

वालों को उनके लिये कोई सहानुभूति नहीं होती। दरबार में लोग अपनी-अपनी राशि या समाज में रहते और समय पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करते हैं; उनके खो जाने का डर नहीं रहता। कोई भाव भी यदि अपनी श्रेणीवाले अन्य भावों से सुसंबद्ध कर दिया जाय, और उन्हीं के साथ जकड़ दिया जाय, तो खो नहीं सकता, भूल नहीं सकता, और अपनी जातिवाले नए भावों के बुलाने में बड़ी सहायता करता है।

किसी भी भाव के लिये अपनी श्रेणी में रहना आवश्यक है, परंतु वह एक से अधिक श्रेणियों में भी रह सकता है, और जितनी ही अधिक श्रेणियों से उसका संबंध होता है, उतनी ही उसको स्थिरता मिलती है। समुद्रगुप्त के नाम का संबंध अनेक बातों से हो सकता है—(१) राज्य-विस्तार, (२) विद्या और कला का प्रचार, (३) धर्म-संबंधी व्यवस्था, (४) क़िस्से-कहानियों से संबंध, (५) एक विशेष समय से संबंध, इत्यादि।

राशि-राशि में या श्रेणी-श्रेणी में भी संबंध होता है; राशियाँ भी अपना-अपना साथी ढूँढ़ लेती हैं। इतिहास-श्रेणी और साहित्य-श्रेणी में मित्रता है; गणित-श्रेणी और पदार्थ-विज्ञान-श्रेणी में संबंध है; गायन-श्रेणी और वादन-श्रेणी प्रायः साथ-ही-साथ रहना पसंद करती हैं। इसलिये अध्यापक का यह भी काम है कि जहाँ तक हो सके, वह कई श्रेणियों में परस्पर संबंध पैदा करे; जो नया भाव बच्चों के मन में प्रवेश कराना हो, उसके लिये पहले एक विचार-श्रेणी में, फिर अन्य विचार-श्रेणियों में स्थान पैदा करे। विषयों के समानाधिकरण (एक दूसरे से संबंध रखने और एक दूसरे पर अवलंबित रहने) का महत्त्व शिक्षा-शास्त्र में बहुत अधिक है। इतिहास की शिक्षा बिना भौगोलिक ज्ञान के नहीं हो सकती, उसके लिये थोड़ा-सा राजनीति-संबंधी ज्ञान भी

आवश्यक है। इसी प्रकार अन्य विषयों के लिये भी समझना चाहिए, और विषयों का परस्पर संबंध अवश्य कराना चाहिए।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि किसी ज्ञान के होने में दो ओर से काम होता है—बाहर से और भीतर से, अर्थात् इंद्रियों के द्वारा बाहरी वस्तुओं से जो ख़बर मिलती है, उसका संकेत पाकर अंतर्बोध के द्वारा उसका अर्थ लगाया जाता है। बाहरी संकेत का फल बहुत कम होता है। सड़क पर सैकड़ों आदमी आते-जाते रहते हैं, परंतु मुझ पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, मानो मैं उन्हें देखता ही नहीं। किसी समय चिट्ठीरसाँ आ जाता है, तो मेरे नौकरों पर उसके आने का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, परंतु मेरे लिये वह पुरुष बड़े महत्त्व का होता है; जब तक चिट्ठी मेरे हाथ में नहीं आ जाती, या जब तक वह यह नहीं कह देता कि आपके नाम की कोई चिट्ठी नहीं है, तब तक उसका महत्त्व मेरे जी से नहीं हटता। कारण, नौकरों को उससे अपनी चिट्ठियाँ पाने की आशा बहुत कम होती है, उनके लिये चिट्ठीरसाँ एक साधारण व्यक्ति है; मुझे अपने मित्रों का हाल जानने की उत्सुकता रहती है, और इस हाल के जानने का साधन वही भद्र पुरुष चिट्ठीरसाँ है। रामायण पढ़नेवाले जानते हैं कि जनकपुर में रामचंद्रजी को भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा था, यथा—

जिनके रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।
देखहिं भूप महा रनधीरा, मनहुँ बीर-रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी, मनहुँ भयानक मूरति भारी।
रहे असुर छल जो नृप-बेखा, तिन प्रभु प्रकट काल-सम देखा।
पुरवासिन देखे दोउ भाई, नर-भूषन, लोचन-सुखदाई।
विदुषन प्रभु विराटमय दीसा, बहु मुख, कर, पग, लोचन, सीसा।

जनक-जाति अवलोकहिं कैसे, सजन-सगे पिय लागहिं जैसे।
सहित विदेह बिलोकहिं रानी, सिसु-सम प्रीति न जाय बखानी।
जोगिन परम तत्त्वमय भासा ; संत सुद्ध मन सहज प्रकासा।
हरि-भक्तन देखे दोउ भ्राता, इष्टदेव-इव सब सुखदाता।
रामहिं चितव भाव जेहि सीया, सो सनेह-सुख नहिं कथनीया।

इसमें टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कवि स्वयं ही मनोविज्ञान का सिद्धांत इस प्रकार बतलाए देता है—

जाहि विधि रहा जाहि जस भाऊ, तेहि तस देखेउ कोसलराऊ।

पहले कहा जा चुका है कि मानसिक विकारों के साथ-साथ शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं। कल्पना कीजिए कि ताश के खेल में किसी ने गुलाम का पत्ता डाला ; प्रक्षे में चित्र बना है; चित्र सामने होने की सूचना आँख के ज्ञान-तंतुओं ने मस्तिष्क को दी; मस्तिष्क ने पहचान लिया कि गुलाम है, राजा नहीं है, क्योंकि राजा के पत्ते में मुकुट होता है। पहचानने ही पर क्रिया समाप्त न हुई; किंतु गुलाम के पत्ते से अन्य पत्तों का संबंध, जो पहले अनुभवों में स्थापित हो चुका है, वह आकर उपस्थित हुआ, अर्थात् ऐसे विचार आने लगे जैसे इस पत्ते का मूल्य रानी के पत्ते से, या राजा के पत्ते से, या इक्के के पत्ते से कम है, इसलिये यदि गुलाम के पत्ते से अधिक मूल्यवाला पत्ता डाला जाय तो दाँव जीत लिया जा सकेगा। उस खिलाड़ी के पास रानी का पत्ता है और इक्का है। वह विचारता है कि यदि रानी का पत्ता डाल दूँ, और उसके ऊपर कोई खिलाड़ी राजा का पत्ता डाल दे तो मेरा दाँव हार जायगा; यदि इक्का डालूँ तो जीत होगी, परंतु राजा का पत्ता वैसे-का-वैसा ही बना रहेगा, और फिर भी मेरे रानी के पत्ते को व्यर्थ करने के लिये बचा रहेगा। फिर वह सोचता है कि इस खिलाड़ी ने गुलाम का पत्ता क्यों डाला ; अनुमान से मालूम होता

है कि इसी खिलाड़ी के पास राजा का पत्ता मौजूद है, और वह चाहता है कि इस गुलाम के पत्ते पर इक्का कट जाय तो दूसरी चाल में राजा से बड़ा कोई पत्ता न रहेगा और दाँव जीत जायगा। ऐसा सोचकर हमारा खिलाड़ी गुलाम के पत्ते पर रानी का पत्ता डाल देता है।

इस मानसिक संकल्प-विकल्प के साथ-साथ मस्तिष्क के तंतुओं और कोठरियों में जो परिवर्तन या आंदोलन हुआ उसे हम चित्र के द्वारा यों प्रकट कर सकते हैं—
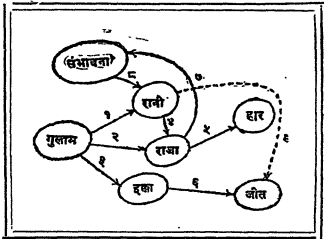
चित्र में जो गोल-गोल वृत्त बने हैं, वे मस्तिष्क की ज्ञान-कोठरियाँ हैं, जो रेखाएँ खींची हैं वे मस्तिष्क के स्नायु-तंतु हैं, जो इन कोठ-रियों में परस्पर संबंध पैदा करते हैं। गुलाम से रानी, राजा, इक्का तक स्नायु-तंतु १, २, ३, संबंध करते हैं (अर्थात् यह भाव पैदा होता है कि गुलाम से रानी, राजा, इक्का बड़े हैं; गुलाम से

रानी का संबंध नं० १ ; रानी से राजा का संबंध नं० ४ ; राजा से हार का संबंध नं० ५ ; फिर गुलाम से इक्का का संबंध नं० ३ ; इक्का से जीत का संबंध नं० ६ ; फिर राजा से संभावना (गुलाम छोड़नेवाले ही खिलाड़ी के पास राजा के होने की संभावना) का संबंध नं० ७ ; संभावना से रानी का संबंध नं० ८ ; रानी से जीत का संबंध नं० ६ ।

बाहर से आँख के द्वारा गुलाम-कोठरी तक ख़बर आई ; भीतर अंतर्बोध द्वारा बड़ा भारी आंदोलन हुआ । यह चित्र केवल दिग्दर्शन के लिये है, यथार्थ में जो संबंध ज्ञान-कोठरियों में स्नायु-तंतुओं के द्वारा होता है उसका चित्रित करना असंभव है ।

अच्छा, तो इंद्रियों के द्वारा जो संकेत होता है उसका फल कम, और अंतर्बोध के द्वारा उसका जो अर्थ लगाया जाता है उसका फल अधिक होता है । कभी-कभी पाँच इंद्रिया द्वारा नहीं, किंतु मन-ही-मन, स्मरण-शक्ति की प्रेरणा से कोई संकेत मिलता है, और उस पर भी अंतर्बोध का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है । शत्रु का स्मरण आते ही उसके किए हुए अपकारों का विचार और उन अपकारों के बदले शत्रु के साथ बुराई करने का विचार पैदा होता है ।

अंतर्बोध का प्रभाव इतना अधिक होता है कि किसी मनुष्य के शील-स्वभाव का हाल जानकर, हम प्रायः यह बतला सकते हैं कि अमुक बात का उत्तर वह इस प्रकार देगा, या अमुक काम वह इस प्रकार करेगा । दूसरे आदमियों के चाल-चलन का निश्चय जो हम अपने मन में कर सकते हैं उसका यही अर्थ है कि उनके अंतर्बोधों का कुछ-कुछ पता हमको लग जाता है, जिससे हम कह सकते हैं कि अमुक बात सुनकर वे अमुक प्रकार की काररवाई करेंगे । 'देवदत्त से यह बात न कहना, नहीं तो वह तुम्हारे काम में विघ्न

डालेगा।'; 'गोपाल के पास जाओ तो वह तुम्हारी सहायता करेगा' इत्यादि परामर्शों का भाव यही है कि देवदत्त और गोपाल की विचार-श्रेणियाँ नियत हैं, और इन विचार-श्रेणियों से संबद्ध होकर बतलाई हुई बात का फल विघ्न और सहायता यथाक्रम होंगे।

यह ही नहीं, किंतु किसी मनुष्य के विशेष कामों को देखकर और उसकी बातों को सुनकर हम उसके चाल-चलन का पता लगा लेते हैं। किसी जगह एक कहानी लिखी है कि कई आदमी रेल पर जा रहे थे। उनमें से एक आदमी मनःशास्त्र का पंडित था। मन-बहलाव के लिये पंडित ने कहा कि मेरे एक प्रश्न का उत्तर हरएक आदमी दे तो मैं उसके व्यवसाय का हाल बता दूँ। सब लोग उद्यत हो गए। पंडित ने पूछा, 'फल' क्या वस्तु है? एक ने उत्तर दिया 'छुरी या भाले आदि का वह भाग जिससे कुछ काटा जाता है।' पंडित ने कहा, तुम लोहार हो। दूसरे ने उत्तर दिया, 'पाप और पुण्य के परिणाम को फल कहते हैं।' पंडित ने कहा, तुम धर्म-शास्त्री हो। तीसरे ने उत्तर दिया, 'आम, अमरूद, केला आदि फल हैं।' पंडित ने कहा, तुम फलों के व्यापारी हो। चौथे ने उत्तर दिया, 'फल नपुंसकलिंग का शब्द है।' पंडित ने कहा, तुम संस्कृत-व्याकरण के विद्वान् हो। इस प्रकार 'फल' शब्द के विविध अर्थ सुनकर पंडित ने समझ लिया कि जैसा अर्थ बतलाया गया है, उसी के अनुकूल विचार-परंपरा भी उत्तर देनेवाले के मन में है, और यह विचार-परंपरा एक क्षण की कमाई नहीं, किंतु जैसा काम वह मनुष्य करता है उसी के अनुसार दीर्घकाल में बनी है।

अध्यापक के लिये भी उसी पंडित की-सी बुद्धि चाहिए, अर्थात् उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि अमुक-अमुक बालकों की विचार-श्रेणियाँ अमुक-अमुक प्रकार की हैं; और पाठ्य विषय को इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए कि उसका संबंध उन विचार-

श्रेणियों के साथ बड़ी सरलता से बँध जावे। यदि बच्चे सुरागाय का हाल नहीं जानते तो उनसे उसका वर्णन करना व्यर्थ है; पहले उसका संबंध वर्तमान विचारों से करना चाहिए। सब बच्चों ने देशी राज-दरबार न देखे होंगे, परंतु बरात तो हरएक ने देखी होगी; बरात में वर के पास कोई नौकर मोरछल या चँवर हिलाता रहता है; विवाह के समय इन बच्चों पर भी चँवर हिलाया जायगा। यह चँवर कहाँ से आता है? यह चँवर सुरागाय की पूँछ के बाल हैं। तो सुरागाय कहाँ होती है और कैसी होती है? लीजिए संबंध बँध जाने से जिज्ञासा पैदा हो गई, और सुरागाय के वर्णन में बच्चों की रुचि उत्पन्न हो गई।

अध्याय ८

स्मरण-शक्ति

किसी पूर्व समय हमारी चेतना जिस दशा में थी उसके ज्ञान का नाम स्मरण है। उस समय और इस समय में जो अंतर है उसमें उस स्मृति-विषयक बात का चित्त से उतर जाना आवश्यक है। अर्थात् स्मरण उन घटनाओं या बातों का ज्ञान है, जिनके विषय में हम इस व्यवधान में (अर्थात् जिस समय घटना या बात हुई है उस समय से और उस घटना या बात के स्मरण आते समय तक) नहीं सोचते रहे; और जो कि हमारे ही अनुभव में कभी आई है। जैसे, किसी रात्रि को 'अ' और 'ब' एक ही स्थान पर हैं। 'अ' जागता है, और एक तारे का पतन देखता है; 'ब' सो रहा है, और उसके बारे में कुछ नहीं जानता। यह घटना कुछ देर तक 'अ' के मन में रहती है, फिर अन्य बातें मन में आने लगती हैं, और इस घटना से चित्त अलग हो जाता है। अब किसी समय 'अ' के मन में इस घटना की स्मृति हो सकती है; परंतु 'ब' के मन में कभी नहीं होगी। हाँ, यदि सवेरे उठकर 'अ' उसे इस घटना का वृत्त सुनावे, तो 'ब' को भी कालांतर में इस बात की स्मृति हो सकती है—तारा टूटने की घटना की स्मृति नहीं, किंतु 'अ' द्वारा उसके वर्णन किए जाने की। इसीलिये स्मृति-पथ में आरोहण करने के निमित्त किसी बात या घटना का पूर्व अनुभव आवश्यक है; और वह अनुभव भी स्वयं स्मृति-कर्ता का, अन्य का नहीं।

स्मरण-शक्ति के लिये दो बातों की आवश्यकता है—(१) स्मृत

विषय का रुकना या स्तंभन, या मन में रक्खा रहना, और (२) स्मृत विषय की स्मृति, याद आना, चित्त के सामने आना, आगमन, उद्गमन। जो बात स्मृति-पथ में आवेगी, वह बिना कहीं संचित या रक्षित रहे, नहीं आवेगी। उसका उद्गमन ही सिद्ध करता है कि वह कहीं पर थी, और ठीक सामग्री होने पर आ गई। इसीलिये किसी विषय के स्तंभन से अभिप्राय है उसका उद्गमन-योग्य होना, अर्थात् जिन बातों के साथ उस विषय का अनुभव भूतकाल में हुआ था उन्हीं बातों में से बहुतों के साथ उस विषय का चेतना में आना।

इन दोनों बातों का संबंध मस्तिष्क से है। अध्याय ३ में मस्तिष्क और स्नायुओं का कुछ वर्णन दिया गया है। यहाँ इतना और बतलाना आवश्यक है, कि मस्तिष्क की ऊपरी भूरे रंग की तह बहुत-सी स्नायु-निर्मित कोठरियों के सम्मेलन से बनी है, और भीतरी सफ़ेद तह स्नायु-निर्मित तंतुओं के सम्मेलन से बनी है। मस्तिष्क के बृहत् कार्यालय के विशाल मंदिर में एक छोटी-सी कोठरी हरएक छोटे-से-छोटे ज्ञान के लिये नियत है; वहीं तद्विषयक ज्ञान का संचय है। इस ज्ञान से संबंध रखनेवाली और जितनी कोठरियाँ इस भवन में हैं, उन सबसे इसका संबंध कर दिया गया है; टेलीफ़ोन से ख़ाली कोई कोठरी नहीं है। तंतुओं और कोठरियों की संख्या अगणित है। एक-एक कोठरी का परिमाण अणु-मात्र समझना चाहिए, और एक-एक तंतु की मुटाई इतनी कम होती है कि सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से शायद ही कुछ सहायता मिले। इसी मस्तिष्क में स्नायुओं के जोड़े दोनों ओर से निकलकर शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाते हैं।

मस्तिष्क से स्मरण-शक्ति का संबंध— ऊपर कहा गया है कि मस्तिष्क में प्रधानतया कोठरियाँ और तंतु हैं। कोठरियों में ज्ञान

संचय की सामग्री है, और तंतुओं के द्वारा कोठरियाँ एक दूसरी से संवद्ध हैं। अब कल्पना करो कि वैशाख-मास में 'अ' अपने कोठे पर खुली हवा में लेटा है, और आगामी आम्र की फ़सल पर विचार कर रहा है। पास ही 'ब' भी पड़ा सोता है। एकआध पड़ोसी भी अभी जाग रहे हैं, 'स' गाता है। अँधेरी रात है, और घुग्घू पक्षी कभी-कभी अपने अनिष्ट शब्द से लोगों के मन में अनिष्ट शंका कराता है। इसी समय आकाश में एक तारा टूटता है, और आधे आकाश-मार्ग में घूमकर लुप्त हो जाता है। इस तारा-पतन को देखकर 'अ' उठ बैठता है, और 'ब' को जगाकर सब हाल कहता है; उधर 'स' पुकारता है कि देखो भाई 'अ' अभी तारा-पतन हुआ है। कुछ देर इसी विषय पर बातें होती हैं, और घुग्घू के बोलने तथा तारा के टूटने से भविष्य में अनिष्ट की चिंता की जाती है। सब लोग सो जाते हैं।

कुछ दिन पीछे गाँव में कोई प्रतिष्ठित पुरुष मर गया। यह ख़बर सुनते ही 'अ' को तारा-पतन का स्मरण हो आया, और उसी के साथ-साथ घुग्घू के अनिष्ट शब्द का भी स्मरण हुआ। यही नहीं, अन्य समय में घुग्घू के बोलने से, या 'ब' को सोता हुआ देखने से, या 'स' का गीत सुनने से, या अँधेरी रात देखने से, या अन्य ऐसी ही बातों से तारा-पतन का स्मरण 'अ' के मन में हो सकता है। कारण यह है कि तारा-पतन का संबंध इन सब बातों से 'अ' के मन में हो गया है, और इन सब बातों में से किसी के उपस्थित होने पर तारा-पतन की स्मृति हो सकती है। यदि किसी समय इन सब बातों में से दो साथ-ही-साथ उपस्थित हों, तो तारा-पतन का स्मरण और भी सरलता से होता है। यदि कई बातें साथ-ही-साथ या आगे-पीछे 'अ' के हृदय में उपस्थित हों, तो भी तारा-पतन की स्मृति अवश्य ही हो जायगी।

अब मस्तिष्क में तारा-पतन और उसके साथवाली घटनाओं का क्या प्रभाव पड़ता है ? कल्पना करो कि चित्र में 'ता' मस्तिष्क की वह कोठरी है, जिसमें तारा-पतनवाली घटना का ज्ञान है। 'रा' ऐसी कोठरी है जिसमें अँधेरी रात का ज्ञान है, इसी प्रकार 'ब' में अपने साथी 'ब' के निकट सोने का ज्ञान है, 'स' में पड़ोसी 'स' के गाने का ज्ञान है, 'घ' में घुग्घू के बोलने का ज्ञान है। 'च' में 'ता' और 'घ' से उत्पन्न अनिष्ट चिंता है। इन कोठरियों को मिलानेवाली रेखाएँ स्नायु-तंतु हैं, जो इन कोठरियों के ज्ञान को एक दूसरे से संबद्ध करते हैं। किसी समय जब 'ब' फिर 'अ' के निकट सोवे तो 'ता' कोठरी का ज्ञान 'अ' के मन में स्मृति-रूप से उदय हो सकता है ; यदि उसी समय 'रा' कोठरी का ज्ञान भी आ जाए, अर्थात् अँधेरी रात हो, तो 'ता' के स्मरण की संभावना और भी अधिक हो जाती है ; और यदि और भी कोठरियाँ 'स' 'घ' आदि का ज्ञान उसी समय उपस्थित हो जाय, तब तो तारा-पतन का स्मरण अवश्य ही हो जायगा। इतना ही नहीं, कोठरियों का संबंध ऐसा हो जाता है कि किसी एक के उपस्थित होने से कोई दूसरी कोठरी, या कई अन्य कोठरियाँ अपना ज्ञान स्मृतिपथ में ले आ सकती हैं। जैसे घुग्घू के बोलने से 'स' का गीत याद आ सकता है, या अँधेरी रात होने से घुग्घू का बोलना याद आ सकता है। संबंध करनेवाली रेखाओं का होना, अर्थात् स्नायु-तंतुओं का होना ही, किसी घटना का स्तंभन है; और मस्तिष्क का इन्हीं तंतुओं के द्वारा आंदोलन उस घटना की स्मृति है। किसी घटना के ज्ञान का स्तंभन केवल शारीरिक बात है, पर उसका स्मरण शारीरिक तथा मानसिक बातें हैं क्योंकि जब तक यथार्थ स्मरण नहीं होता, तब तक मस्तिष्क में उस ज्ञान के रहते हुए

भी कोई मानसिक बात नहीं होती, केवल मस्तिष्क अपनी कायिक शक्ति के द्वारा उस ज्ञान का संचय रखता है। स्मरण होने पर मस्तिष्क में आंदोलन होता है, जो शारीरिक विधि है, और मन में ज्ञान उत्पन्न होता है, जो मानसिक विधि है।

जब हम किसी यथार्थ घटना को देखते या सुनते हैं, तो उस समय भी, जैसा कि पहले बतलाया गया है, उस घटना की ख़बर ज्ञान-तंतुओं के द्वारा मस्तिष्क को होती है, और मस्तिष्क में आंदोलन होने से मन को उस घटना का ज्ञान होता है। स्मरण में भी मस्तिष्क का आंदोलन आवश्यक है। तो किसी घटना को यथार्थ देखने में और उसके स्मरण में भेद क्या रहा? यथार्थ घटना के देखने में भूतकाल का भान नहीं होता, उसके स्मरण में भूतकाल की भावना मन में रहती है, और उससे संबंध रखने-वाली अन्य बातों का भाव भी मन में आता है।

बहुसंबंध से लाभ—जब किसी घटना का संबंध कई घटनाओं या बातों से होता है, तो इनमें से कोई भी घटना या बात उस प्रधान घटना का स्मरण दिला सकती है। जब कोई अच्छा संबंध नहीं मिलता, तो कोई कृत्रिम संबंध कर लिया जाता है। जब हम चाहते हैं कि किसी बात का स्मरण कुछ समय पीछे हो तो रूमाल में ग्रंथि बाँध लेते हैं, जिससे कि उस बात में और रूमाल की ग्रंथि में एक बनावटी संबंध हो जाता है। जब रूमाल निकालते हैं तो ग्रंथि देखते हैं, और पूर्वकल्पित संबंध के द्वारा उस बात का स्मरण हो जाता है। इसीलिये लोग उपदेश दिया करते हैं कि हमारी बात को गाँठ में बाँधो।

कभी ऐसा भी हो जाता है कि हम किसी स्थान पर बैठे कुछ काम करते होते हैं, जब कि यकायक कोई बात मन में आ जाती है। हम उसी समय सोचने लगते हैं कि अच्छा, यह काम समाप्त हो

जाय तो चलकर अमुक व्यक्ति से वह बात कहेंगे। उस व्यक्ति से मिलने पर हम वह बात कहना चाहते हैं; परंतु करें क्या, वह तो भूल गई। भूलने का कारण यह हुआ कि जिस समय वह बात मन में आई थी, उस समय हम अन्य कार्य में आसक्त थे; इसलिये उस बात का संबंध अन्य किसी बात से न हो सका। हम बहुत कुछ उद्योग करते हैं, सिर पर हाथ फेरते हैं, व्याकुल होते हैं; परंतु वह बात अब नहीं आती। विवश होकर हम उसी स्थान पर फिर जाकर बैठते हैं जहाँ वह बात मन में आई थी, और वही काम करने लगते हैं। चूँकि उस स्थान और उस काम से किसी-न-किसी प्रकार का संबंध उस बात के साथ पैदा हो गया है, इसलिये प्रायः उस बात का स्मरण हो जाता है।

स्मरण रखने के दो उपाय—ऊपर के वर्णन से ज्ञात हुआ कि स्मरण-शक्ति केवल मस्तिष्क के स्नायु-तंतुओं पर अवलंबित है। इसके लिये दो बातों की आवश्यकता है—एक तो इन संबंधक तंतुओं का बाहुल्य, दूसरे इनकी कायिक उत्तमता। तंतुओं की कायिक उत्तमता का अर्थ यह है कि एक बार कुछ भी संबंध किसी ज्ञान से हो गया, तो वह ज्ञान कभी भूल नहीं सकता। यह कायिक उत्तमता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, और एक ही व्यक्ति में भी बाल्य, यौवन, वार्धक्य में भिन्न-भिन्न हो जाती है। बहुत-से लोग ऐसे देखे जाते हैं जो असंबद्ध तारीखें, नंबर, पते, नाम आदि अच्छी तरह स्मरण रख सकते हैं; यह गुण उनके मस्तिष्क-तंतुओं की कायिक उत्तमता से आता है। इस गुण पर हमारा कोई वश नहीं है, उत्पत्ति ही से जिसे जैसा मस्तिष्क मिल गया उसे वैसे ही से काम चलाना पड़ता है। हाँ, साधारण रीति से जो पदार्थ स्वास्थ्य को अच्छा रखते हैं, वे मस्तिष्क के लिये भी लाभदायक होते हैं।

अब रही दूसरी बात, संबंधक तंतुओं का बाहुल्य, सो हमारे वश में है। मस्तिष्क की किसी कोठरी का संबंध इन तंतुओं के द्वारा जितनी ही अधिक कोठरियों से होगा उतनी ही अधिक संभावना उस कोठरीवाले ज्ञान के स्मरण की होगी। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि किसी घटना का संबंध जितनी ही अन्य घटनाओं या बातों से मन में होगा, उतनी ही अधिक सरलता से उस घटना का स्मरण हो सकेगा। जो व्यक्ति कि अपने अनुभव पर खूब विचार करता है, और उसका हर प्रकार का संबंध अन्य बातों के साथ पैदा करता है, उसकी स्मरण-शक्ति उस अनुभव के लिये बहुत उत्तम होती है। किसी अच्छी विचार-श्रेणी में हरएक विचार का संबंध उस श्रेणी के अन्य विचारों के साथ होता है, और उस श्रेणी का कोई भी विचार विस्मृत नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह विस्मृति के सागर में डूबने लगता है, तो तत्संबंधी अन्य विचारों का जाल उसे निकाल लेता है।

सबसे उत्तम विचार-श्रेणी वह है जिसके विचार या जिसकी बातें किसी वैज्ञानिक रीति से एक दूसरे के साथ ओतप्रोत हो जायँ। ऐसी श्रेणी में अपनी-अपनी जातिवाली बातें एकत्र कर ली जाती हैं, उनके नियम ढूँढ़े जाते हैं, और कारण, कार्य आदि संबंध स्थापित कर लिए जाते हैं।

यदि हमारी स्मरण-शक्ति निर्बल है अर्थात् यदि मस्तिष्क की कायिक दशा अच्छी नहीं है, तो हमारे लिये दूसरा उपाय साध्य है कि जिन बातों का स्मरण रखना आवश्यक हो उन पर हर प्रकार से विचार करें, उनका संबंध अन्य बातों से पैदा करें, और उनके नियम ढूँढ़ें। शिक्षक का महत्त्व इसी में है कि वह अपने शिष्यों के मन में उत्तम विचार की श्रेणियाँ बनवाए।

स्मृति-प्रेरक शब्द या वाक्य—कभी-कभी विचार-श्रेणी

अवैज्ञानिक रीति से भी बना ली जाती है, अर्थात् ऐसा कोई उपाय ढूँढ़ा जाता है जिससे कोई बात भूलने न पावे, जैसे किसी सार्थक या निरर्थक शब्द की कल्पना जिसके अक्षरों से किसी बात का विवरण याद रह सकता हो। निरर्थक शब्द "बाहु अजशा" के द्वारा बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ का राज्यक्रम स्मरण रक्खा जाता है। इन्हीं बादशाहों के नामों के प्रथम अक्षरों से यह शब्द बना लिया गया है । ऐसे स्मृति-प्रेरक शब्दों का कंठस्थ रखना आवश्यक होता है ; और यदि उन्हीं पर भरोसा किया गया है, तो उनके भूल जाने की दशा में, या उनकी कुंजी भूल जाने की दशा में, फिर कोई सहायता कहीं से नहीं मिल सकती। यह अवैज्ञानिक रीति है, और उत्तम नहीं; तथापि जब अन्य अच्छा उपाय नहीं मिलता तो इससे काम लिया जाता है।

रटाई या तोता रटन—बिना समझे-बूझे किसी वाक्य को बार-बार कहकर कंठस्थ करना रटाई है। रटाई से कोई लाभ नहीं, क्योंकि विद्या जिस लिये सीखी जाती है, वह उद्देश पूरा नहीं होता। रटे हुए वाक्य पर भरोसा भी नहीं कर सकते, क्योंकि बीच में यदि दो-एक शब्द भूल गए तो सभी निकम्मा हो जाता है। रटाई के विरुद्ध लोग इतना रोए-चिल्लाए हैं कि उसके लाभदायक भाग से भी हाथ धो बैठे हैं। शिक्षा की प्रणाली चाहे जैसी हो, शाब्दिक सामग्री ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा विचार मनुष्य के हृदय में जम सकता है । शब्दों ही के द्वारा उच्च-से-उच्च विचार हमारे हृदय में स्थान पा सकते हैं। व्यवहार में सबसे पक्का मनुष्य वही माना जाता है जो अपना अभिप्राय शब्दों के द्वारा प्रकट कर सके। हर शास्त्र में किसी-न-किसी प्रकार के शब्द होते हैं जिनका कंठस्थ रखना आवश्यक है ; और कंठस्थ करने के लिये बार-बार दोहराने से अधिक अच्छा उपाय नहीं है। बार-बार दोहराने और हर भाग

का अर्थ समझने तथा आनुपूर्वी पर विचार करने से अविकल वाक्य कंठ रह सकते हैं। बिना अर्थ समझे रटना बुरा है; हृदिस्थ करने के लिये समझ-बूझकर दोहराना अच्छा है। नीतिकार ने एक श्लोक लिख दिया है—

"पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्;
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।"

स्मरण-शक्ति का पुराना सिद्धांत और नया सिद्धांत— पुराने लोग समझते थे कि अन्य शक्तियों की तरह स्मृति भी एक शक्ति है, जो पुरानी बातों को हमारे मन के सामने लाती है। यदि ऐसा हो, तो जिन बातों की आवश्यकता हमको सबसे अधिक है, वे बिना प्रयास ही याद आ जाया करें; और एक प्रकार की विद्या सीखने से स्मृति में ऐसा बल आ जाय कि दूसरे प्रकार की विद्याएँ सीखने में परिश्रम न पड़े। वास्तव में ऐसा नहीं होता। जो गणित-शास्त्र में पारंगत है, वह इतिहास-शास्त्र से नितरां अनभिज्ञ है। जो भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखता है, उसके लिये भूगोल-शास्त्र मानो अस्तित्व ही नहीं रखता। कारण यह है कि जिसकी विचार-श्रेणी गणित-शास्त्र के सिद्धांतों से भरी है, उसे इतिहास सीखने में गणित-शास्त्र से बड़ी सहायता नहीं मिलती। इतिहास सीखने के लिये उसे दूसरी विचार-श्रेणी बनानी पड़ती है, जिसकी संपूर्ण बातें परस्पर संबद्ध रहती हैं। आधुनिक पंडित स्मृति का सिद्धांत यह बतलाते हैं कि वह सर्व-ज्ञान-निष्ठ एक साधारण शक्ति नहीं है, किंतु उसे हम अनेक शक्तियों का समूह कह सकते हैं। एक-एक परस्पर-संबद्ध विचार-श्रेणी के लिये स्मृति की पृथक्-पृथक् शक्तियों का प्रयोग होता है। एक विचार-श्रेणी की स्मृति-शक्ति में उन्नति होने से सब विचार-श्रेणियों की स्मृति-शक्तियों में उन्नति नहीं हो जाती। एक विचार-श्रेणी की

दक्षता दूसरी विचार-श्रेणी के सीखने में उतनी ही सहायता देती है जितना कि संबंध दोनों विचार-श्रेणियों में होता है। गणितज्ञ पंडित को इतिहास सीखने में गणित से उतनी ही सहायता मिल सकती है, जितना संबंध गणित और इतिहास में है।

स्मृति-शक्ति की उन्नति के विज्ञापन—समाचार—पत्रों में प्रायः ऐसे विज्ञापन मिलते हैं कि हमारे बतलाए हुए उपाय से प्रति-दिन कुछ परिश्रम किया जाय, तो मनुष्य की साधारण स्मृति-शक्ति बढ़ जाय और वह पहले से दसगुना अधिक याद करने लगे। ऐसे विज्ञापनों में कोई तत्त्व नहीं होता। यदि विज्ञापनदाता का उपाय उत्तम और शास्त्र-सम्मत भी हुआ, तो जिस प्रकार की बातें या जिस विचार-श्रेणी की बातें सीखने और स्मरण रखने में उस उपाय का प्रयोग किया जाता है, उसी विचार-श्रेणी की स्मृति-शक्ति की उन्नति होती है; साधारण स्मृति-शक्ति में उन्नति नहीं हो जाती। यदि श्लोक कंठस्थ करने के लिये विज्ञापन-सम्मत उपाय किया गया है, और सफल हुआ है, तो केवल श्लोक कंठस्थ करने की शक्ति बढ़ गई है; गणित के जटिल प्रश्नों के निकालने की शक्ति पूर्ववत् ही बनी है।

हाँ, एक बात अवश्य होती है कि यदि एक विचार-श्रेणी में वैज्ञानिक रीति से परिश्रम किया गया है, तो उस श्रेणी की बातों को क्रम-बद्ध करने, उनके नियामक सिद्धांत ढूँढ़ने, और परस्पर संबंध स्थापित करने की आदत पड़ गई है, और उस आदत से दूसरी विचार-श्रेणियों के सीखने में सहायता मिल सकती है। परंतु नई विचार-श्रेणी की बातों को सीखना पड़ेगा, उनमें संबंध पैदा करना पड़ेगा; बिना इसके काम नहीं चल सकता।

विषय के हृदिस्थ करने के उपाय—स्मृति-प्रेरक उपाय का वर्णन हो चुका है जिसमें कोई ऊपरी और बनावटी संबंध स्थापित कर लिया जाता है। वैज्ञानिक उपाय का भी नाम आ चुका है, जिसमें

किसी विचार-श्रेणी की बहुत-सी बातें एकत्र करके उनमें संबंध ढूँढ़ा जाता है, उनके नियामक सिद्धांत निकाले जाते हैं, उन्हें अपनी-अपनी जाति में बाँटना पड़ता है। व्यावहारिक उपाय यह है कि इष्ट बात को बार-बार कहते हैं, समय-समय पर दोहराते हैं, अन्य बातों से ध्यान खींचकर उसी में लगाते हैं, उसकी भावना अनेक इंद्रियों के द्वारा देते हैं। स्कूलों में श्यामपट का प्रयोग व्यावहारिक उपाय का उदाहरण है, इसमें विद्यार्थी हाथ से लिखता है, लिखा हुआ विषय आँख से देखता जाता है, उसी विषय को मुँह से कहता है, और कान से सुनता है। इस प्रकार इष्ट विषय का ज्ञान चार इंद्रियों के द्वारा साथ-ही-साथ होता है।

जाँच से मालूम हुआ है कि कुछ लोग आँख के द्वारा, कुछ कान के द्वारा, और कुछ मांसपेशियों के द्वारा अधिक ज्ञान अर्जन करते हैं, अर्थात् किसी को यह बात याद रहती है कि अमुक शब्द, अमुक पुस्तक के किसी पृष्ठ पर, अमुक स्थान पर, अमुक प्रकार से छपा देखा था, और वहाँ इसका यह अर्थ था; किसी को यह स्मरण रहता है कि अमुक शब्द को इस प्रकार शिक्षक ने कहा था, और उनका ऐसा अर्थ बतलाया था; किसी को यदि शब्द लिखने में भ्रम होता है तो वह तत्क्षण ही उसे लिखने लगता है, और उसके हाथ से प्रायः शुद्ध ही रूप लिखा जाता है। इसलिये पाठशालाओं में व्यावहारिक उपाय से काम लेना अच्छा है। इससे यह लाभ होता है कि जिसकी जो इंद्रिय अधिक प्रबल होती है, वह विशेषतः उसी के द्वारा ज्ञानार्जन करता है, और अन्य इंद्रियों के द्वारा यह कार्य गौण रूप से होता है।

विस्मृति—भूल जाने को विस्मृति कहते हैं। आवश्यक बातों का भूल जाना दोष है; परंतु अनावश्यक बातों के भूलने से कोई हानि नहीं। यही नहीं, किंतु शिक्षा में भूल का भी महत्त्व है। किसी

बात के सिखाने में अध्यापक अनेकों उपाय करता है। आवश्यक बात के हृदिस्थ करने के लिये अनावश्यक बातों की भरमार करता है। परंतु ये अनावश्यक बातें कुछ समय में भूल जाती हैं, और केवल आवश्यक बात याद रह जाती है। यदि कुछ लिखते समय आवश्यक बातों के साथ दसगुनी अनावश्यक बातें मन में आती रहें, तो लिखने में बड़ा विघ्न पड़े। संसार के अनेक शोक, दुःख, हानि, अपमान आदि के दूर करने का केवल उपाय विस्मृति है।

जाँच से मालूम हुआ है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है, त्यों-त्यों भूल की गति कम होती जाती है। जैसे आज दस बातें सीखें, और कल तक अर्थात् एक दिन में पाँच भूल जावें, तो तीसरे दिन फिर पाँच न भूलेंगे, मान लो कि दो भूल गईं; अब शेष तीन बातों में से एक-दो महीने के बाद एकआध और भूलेगी; जो रह जावेंगी, वे शायद वर्षों तक न भूलें।

क्या किसी विषय का भूल जाना उसके लाभ से बिलकुल वंचित हो जाना है?—नहीं, एक बार की सीखी हुई बात भूल भी जावे तो अल्प प्रयास से सीखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जिस समय वह भूली नहीं थी, उस समय उसके द्वारा न-जाने कितनी अन्य बातें सीखी गई हों, उसका प्रभाव न-जाने कितनी बातों पर पड़ा हो, और उसके अस्तित्व ही से कदाचित् वह पुरुष उस प्रकार के चाल-चलनवाला हो गया हो। हमारे पूर्व पुरुषों के इस समय न होने पर भी उनके अस्तित्व का प्रभाव कहीं नहीं गया; इसी प्रकार किसी समय अभ्यस्त परंतु इस समय अनुपस्थित विषय अपने प्रभाव से ख़ाली नहीं है।

निर्बल स्मृतिवालों का प्रबोधन—स्मृति की अच्छाई मस्तिष्क की सामग्री पर अवलंबित है; परंतु जिनकी मस्तिष्क-सामग्री अच्छी नहीं उन्हें निराश न होना चाहिए। किसी पुरुष की

योग्यता केवल स्मृति-बल पर ही अवलंबित नहीं, अन्य बातों की भी आवश्यकता है ; जैसे, ध्यान की एकाग्रता, चरित्र की दृढ़ता, इंद्रियों की सबलता ; और सबसे आवश्यक बात है इच्छा की उत्कटता। जिसकी इच्छा किसी विषय के लिये अत्यंत उत्कट है, वह किसी एक शक्ति के कम होते हुए भी, उस इच्छा को सर्वदा पूर्ण करेगा। कदाचित् गोसाईंजी के मन में यही भाव रहा हो, जब उन्होंने यह चौपाई लिखी थी—

जाकर जापर सत्य सनेहू ; सो त्यहि मिलै न कछु संदेहू।

भावना-शक्ति

शिक्षा-शास्त्र में हमें प्रायः 'भावना' शब्द मिलता है, इसका महत्त्व बहुत माना जाता है। इसके समझने के लिये पहले दो-चार बातों का जान लेना आवश्यक है—

(१) वैज्ञानिक पंडितों ने सिद्ध किया है कि मानसिक चेष्टाओं के साथ-साथ मस्तिष्क-संबंधिनी चेष्टाएँ अवश्य होती हैं, अर्थात् स्मरण, विचार, ज्ञान, क्रोध आदि जितनी बातें मन से संबंध रखती हैं, उन सबके साथ-साथ मस्तिष्क में भी उन्हीं के अनुरूप परिवर्तन होता है।

(२) प्रत्यक्ष देखने-सुनने आदि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी के साथ-साथ मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन होता है, और कुछ समय के पीछे उन प्रत्यक्ष वस्तुओं के न होने पर भी, मस्तिष्क में जब कभी उसी प्रकार का परिवर्तन होता है, तब मन में उसी प्रकार की चेष्टाएँ पैदा होती हैं। जैसे सँपेरे को साँप के साथ खेलते हुए देखकर और वहाँ पर अन्य लोगों की बातें सुनकर मानसिक ज्ञान होता है, और साथ-ही-साथ मस्तिष्क की स्नायु-निर्मित कोठरियों में स्नायु-तंतुओं के द्वारा आंदोलन पैदा हो जाता है। कुछ समय बीत जाने पर, यदि किसी प्रसंग से मस्तिष्क की

उन्हीं कोठरियों में फिर आंदोलन हुआ, तो उस आंदोलन का क्रम भी वैसा ही होता है जैसा कि सँपेरे को देखने के समय हुआ था। ऐसी दशा में उसी मानसिक ज्ञान का एक चित्र फिर प्रकट हो जाता है। इस ज्ञान का नाम है स्मरण। यह ज्ञान इतना प्रबल नहीं होता जितना कि प्रत्यक्ष वस्तुओं के देखने से हुआ था : इसे उस असली ज्ञान का आभास-मात्र या चित्र-मात्र कह सकते हैं। असली ज्ञान में और इस ज्ञान में यह भी भेद है कि असली ज्ञान की उत्तेजना बाहरी वस्तु के कारण हुई थी, और इस ज्ञान की उत्तेजना भीतर से, अर्थात् मस्तिष्क के बल से, हुई है।

यह सत्य है कि जैसा ज्ञान किसी समय प्रत्यक्ष रूप में हुआ है, उसी का सच्चा चित्र फिर भी मन में उदय होता है, अर्थात् स्मरण सच्चा होता है, परंतु सदा यह बात नहीं होती। मस्तिष्क का यंत्र इतना अद्भुत है कि बहुत प्रकार के ज्ञान मिल-जुल जाते हैं। एक अनुभव की एक बात, दूसरे अनुभव की कोई बात, तीसरे अनुभव की कोई बात, सब मिलकर एक विचित्र फल पैदा करते हैं। इसी फल का नाम भावना है। रावण के शरीर की भावना प्रायः सभी कर सकते हैं। कहा जाता है कि उसके दस मस्तक, बीस हाथ थे, और उसका एक मस्तक गधे का-सा था। किसी ने ऐसा जीव कभी प्रत्यक्ष न देखा होगा ; परंतु चूँकि हरएक ने मनुष्य का शरीर देखा है, मनुष्य के हाथ देखे हैं, मनुष्य के मस्तक देखे हैं, गधे का मस्तक देखा है, काला रंग देखा है, हाथी देखा है, पेड़, टीले, पहाड़ आदि बड़े-बड़े पदार्थ देखे हैं, इसलिये इन सब ज्ञानों से थोड़ा-थोड़ा अंश एकत्र करके भावनामय एक ऐसे महाकाय-व्यक्ति की कल्पना हो सकती है, जैसा कि रावण के लिये बताया जाता है। अलबत्ता एक बात ऐसी है जिसकी शुद्ध भावना नहीं होने पाती। वह यह कि रावण के एक तरफ़ के दसों हाथ किस जगह पर जुड़े थे,

कंधे पर या कुहनी पर ? अर्थात् वह दस कंकण ही पहन सकता था, या दस बाजूबंद भी बाँध सकता था। तसवीरों में दोनों प्रकार के आकार मिलते हैं। बात यह है कि दस हाथों का ज्ञान होते हुए भी, जहाँ पर हाथ जुड़े होते हैं, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान न होने के कारण सच्ची भावना नहीं हो सकती। इसी प्रकार दस मस्तकों की भावना तो सबको होती है, परंतु मस्तक किस क्रम से लगे हैं, इसकी भावना सबको एक समान नहीं होती। किसी के मन में तो यह भावना होती है कि दसों मस्तकों का सामना एक ही ओर को है, अर्थात् दसों से रावण सामने ही देख सकता है, और किसी के मन में यह भावना होती है कि रावण के चेहरे चारों ओर गोलाई के साथ हैं, जैसे कि ब्रह्माजी के लिये कहा जाता है कि उनका एक-एक चेहरा एक-एक दिशा में है।

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि भावना केवल उन बातों की हो सकती है जिनका ज्ञान किसी प्रकार पहले से है, चाहे वह ज्ञान सच्चा हो या झूठा हो। क्या कोई बतला सकता है कि उसने कभी स्वप्न में कोई ऐसी बात देखी है जो कभी जाग्रत् अवस्था में देखी ही न हो ? जैसा मिश्रण स्वप्न में होता है वैसा मिश्रण कभी अनुभव में न आया हो, यह तो दूसरी बात है, परंतु जिन अंशों से मिश्रण हुआ है, वे सभी पहले से अनुभव में आ चुके हैं। मनुष्य उड़ नहीं सकता, परंतु हम भावना कर सकते हैं कि मनुष्य उड़ा चला जा रहा है, क्योंकि हमें मनुष्य का ज्ञान है, और उड़ने का ज्ञान है, और भावना में दोनों ज्ञान मिल गए।

एक कहावत है, "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा"। वही कहावत भावना-शक्ति के लिये भी चरितार्थ होती है। भावना में 'ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिला दिए जाते हैं।' स्वप्न की अवस्था में, तथा नशे की अवस्था में ही नहीं,

किंतु होश-हवास ठीक होने की अवस्था में भी, ऊटपटाँग विचारों का मिश्रण हो जाता है । जिन लोगों को इस तरह की आदत हो जाती है, वे अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते, वे उस शक्ति को प्रयास-पूर्वक किसी नियत काम में नहीं लगाते, वे मस्तिष्क की इतनी शक्ति व्यर्थ खो देते हैं, और अपने मन की तरंगों के दास होते हैं ; उनके 'ख़याली पुलाव' और 'मनमोदक' अत्यंत अव्यावहारिक होते हैं ।

परंतु यदि इस प्रकार की भावनाएँ किसी विशेष उद्देश्य के लिये या किसी नियत काम के लिये हों तो वे लाभदायक होती हैं । इस प्रकार की लाभकारी भावनाएँ कवियों को, गल्पलेखकों को, चित्र-कारों को, विज्ञानवेत्ताओं को, तथा व्यावहारिक मनुष्यों को होती हैं । वे विविध विषयों के सैकड़ों अंशों को इकट्ठा करके सैकड़ों तरह के मिश्रण अपनी भावनाओं में करते हैं, और जिन मिश्रणों से उनके काम का संबंध नहीं होता, अर्थात् जो मिश्रण उनके काम के प्रतिकूल होते हैं, उनसे ध्यान हटा लिया जाता है । जो मिश्रण उनके काम के अनुकूल होते हैं, वे ग्रहण कर लिए जाते हैं । किसी अच्छी कविता की एक-एक पंक्ति लिखने के लिये कवि के मन में न-जाने कितने भाव आए हों, और न-जाने कितने शब्दों में से उसने वे शब्द चुने हों, जिन्हें हम देखते हैं । एक-एक राजनैतिक सुधार के लिये सैकड़ों तजवीज़ें होती हैं, और जो तजवीज़ सबसे उपयुक्त पाई जाती है वही चुन ली जाती है ।

बच्चों की भावना-शक्ति बढ़ाने और सधाने के लिये पाठशालाओं में अनेक उपाय किए जाते हैं । उन्हें चीज़ें दिखाकर उन चीज़ों के गुणों का वर्णन कराया जाता है । उन चीज़ों, उनके गुणों, तथा शब्दों में संबंध पैदा कराया जाता है । इस संबंध के स्थिर हो जाने पर फिर जब वे ही शब्द अध्यापक के मुँह से सुने जाते हैं तब जिन गुणों या वस्तुओं के लिये उन शब्दों का प्रयोग पहले

हुआ था उन्हीं गुणों या वस्तुओं का चित्र बच्चों के मन के सामने आ जाता है।

गणित या विज्ञान के प्रश्न हल करने में भावना-शक्ति का प्रयोग आवश्यक होता है। इस दशा में प्रश्न के उत्तर पर ध्यान रखकर उसी के अनुकूल सब क्रिया करनी होती है। जो क्रिया प्रतिकूल हो जाती है उसका फल अशुद्ध निकलता है। प्रायः देखा जाता है कि बच्चे गणित के 'इबारती सवाल' हल करने में बहुत कच्चे होते हैं। वे गर्व के साथ कहते हैं कि हम गुणा-भाग आदि की क्रिया तो शुद्धता और शीघ्रता के साथ कर लेते हैं, परंतु इबारती सवाल हमारी समझ में नहीं आते। इस पर कहा जा सकता है कि ऐसे बच्चों का गर्व व्यर्थ है, गुणा-भाग आदि के नियम व्यावहारिक प्रश्नों के हल करने ही के लिये हैं, और यदि व्यावहारिक प्रश्न समझमें नहीं आते, तो इतना सीखना व्यर्थ ही हुआ।

व्यावहारिक प्रश्नों के न समझने का कारण भावना की दुर्बलता है। यदि बच्चा पहले से मोटा अंदाज़ा कर ले कि इस प्रश्न का उत्तर कितना हो सकता है, और प्रश्न में जो बातें दी हुई हैं उनका चित्र स्पष्टरूप से बच्चे के मन में खिंच जावे तो प्रश्न का उत्तर अवश्य ही शुद्ध होगा। मैंने कई अच्छे लड़कों को देखा है कि कठिन प्रश्नों के हल करने में वे थोड़ी देर के लिये आँखें बंद कर लेते हैं, और पूरा ध्यान उस मानसिक चित्र के देखने में लगाते हैं जो उस प्रश्न के संबंध में पैदा हुआ है। यदि दो रेलगाड़ियों के आमने-सामने दौड़ने पर प्रश्न है तो अच्छे लड़के के मन में स्पष्ट चित्र खिंच रहा है, उसकी आँखें बंद हैं परंतु उसकी भावना खुली हुई है, वह भावमय चित्र में देख रहा है कि किस प्रकार दोनों गाड़ियों के इंजिन एक दूसरे के पास आए, और किस प्रकार एक उत्तर को, एक दक्षिण को समानांतर पटरियों पर चले

गए, किस प्रकार एक गाड़ी के सवार दूसरी गाड़ी के सवारों को अस्पष्ट रूप से देख रहे हैं, और किस प्रकार दोनों गाड़ियों के पिछले भाग एक दूसरे के सामने आकर दूसरे से दूर होते चले जाते हैं।

परंतु मन के सामने शुद्ध भावनामय चित्र तभी खिंच सकता है जब भावनांतर्गत वस्तुओं का शुद्ध ज्ञान हो, अर्थात् उन वस्तुओं को बच्चे ने पहले अच्छी तरह देखा-सुना हो। बिना इस ज्ञान के भावना-चित्र अधूरा होगा या धुँधला होगा या अशुद्ध होगा। इसीलिये पदार्थ-पाठ और प्रकृति-निरीक्षण के विषय कोर्स में सम्मिलित किए जाते हैं, इसीलिये शिक्षा में यथार्थ वस्तुओं और उनके अभाव में नमूनों तथा चित्रों की आवश्यकता होती है, और इसीलिये अध्यापक को चाहिए कि वह केवल ऐसे ही व्यावहारिक प्रश्न बच्चों से पूछे जिनके विषय का ज्ञान उनको हो।

शिक्षा-शास्त्र में भावना का बड़ा महत्त्व है। कोई भी पाठ्य विषय हो बिना इस शक्ति के पढ़ाया नहीं जा सकता। गणित का काम बिना भावना के चल नहीं सकता, भूगोल में सौर जगत्, पृथ्वी, पृथ्वी पर के देशों का हाल, सभी भावना के द्वारा जाने जाते हैं। इतिहास में जब तक पुरानी कथाओं की भावना न हो रटना व्यर्थ है। ड्राइंग, दस्तकारी आदि का सारा दारमदार शुद्ध भावना पर है। यदि ठीक भावना न होगी तो ठीक काम न बनेगा। भाषा में क़िस्से, प्राकृतिक वर्णन आदि चीज़ों का ज्ञान भावना ही से होता है।

भावना के अभ्यास में इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके अशुद्ध भावना न स्थापित हो, और इसका यही उपाय है कि विविध चीज़ें, चित्र, नमूने आदि दिखाए जावें, प्रश्नोत्तर द्वारा बच्चों की भावना का पता लगाया जावे, यथासाध्य चित्र खिंचवाए जावें, तथा अन्य उपाय किए जावें जिन्हें अध्यापक उचित समझे।

अध्याय १०

स्वभाव या आदत

स्वभाव या आदत या बान या टेवँ की ठीक-ठीक परिभाषा लिखना कठिन है ; आचार्यों ने बहुत तरह की परिभाषाएँ लिखी हैं, जैसे (१) आदत वह स्वाभाविक शक्ति है जो जन्म से नहीं मिलती, बल्कि जिसका उपार्जन किया जाता है ; (२) आदत ऐसी इच्छा-शक्ति है जो आप-से-आप काम किया करती है, और जो सीखने से मिलती है ; (३) आदत ऐसी नियत शक्ति है जो विशेष अवसरों पर विशेष रीति से सोचने और काम करने की प्रेरणा करती है ; (४) आदत ऐसी शक्ति है जो विशेष कामों के दोहराए जाने की प्रेरणा करती है, या कम-से-कम दोहराए जाने के कारण उन कामों में सरलता पैदा कर देती है ; इत्यादि ।

चलतू शब्दों में ठीक-ठीक परिभाषा न मिलने से कोई हानि नहीं है ; क्योंकि आदत का हाल सबको मालूम होता है । यहाँ पर हमें विचार करना है कि किसी आदत के पड़ने में मस्तिष्क और स्नायुओं में क्या परिवर्तन होता है । मस्तिष्क की बनावट कुछ लुचलुची होती है, और किसी ज्ञान का प्रवाह जिधर से होता है उधर मस्तिष्क में कोई चिह्न पड़ जाता है । जब उसी मार्ग से ज्ञान का प्रवाह कई बार होता है तो वह चिह्न और भी गहरा हो जाता है, और उसके बाद उस ज्ञान के उसी ओर बहने की संभावना अधिक रहती है । यह गुण इतना अधिक बढ़ जाता है कि उस ज्ञान के संबंध में सप्रयास अवधान देने की आवश्यकता नहीं होती ।

मस्तिष्क ही में नहीं, किंतु हरएक भौतिक पदार्थ में ऐसा गुण पाया जाता है कि यदि उसमें किसी तरह का परिवर्तन एक बार कर दिया जाय तो दूसरी बार वही परिवर्तन करने में पहले की-सी रुकावट नहीं होती। काग़ज़ को किसी जगह मोड़ दो तो मोड़ के स्थान पर लकीर पड़ जाती है, फिर दुबारा उसी जगह पर मोड़ना चाहो तो बड़ी सरलता होती है। शरीर के हर भाग में यही गुण पाया जाता है।

थोड़ा-सा भी विचार करने पर प्रकट होगा कि हमारी ज़िंदगी का कितना काम आदत से होता है और कितने में श्रम-पूर्वक ध्यान देने की ज़रूरत होती है। खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, बैठना-उठना, चलना-फिरना, और साधारण सभी बातें आदत से होती हैं, अर्थात् इन कामों में मन को विशेष ध्यान देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। कोई समय ऐसा अवश्य रहा है जिसमें ये ही साधारण काम सीखने पड़े हैं, और इनके सीखनेमें प्रयास-पूर्वक ध्यान देना पड़ा है। बच्चे को पहले-पहल चलना सीखने में कितनी कठिनता पड़ती है; ध्यान-पूर्वक एक पैर पर शरीर का बोझ सँभालकर दूसरा पैर उठाना पड़ता है; फिर उस पैर पर बोझ सँभालकर यह पैर उठाना पड़ता है। किसी को बाइसिकल की सवारी सीखते समय देखो तो हँसी आती है, नया सवार एक पैर चलाता है तो दूसरी ओर बोझ हलका हो जाता है, और वह गिरने लगता है; जो वह पैरों पर ध्यान देता है तो हाथ बेक़ाबू हो जाते हैं। परंतु ये ही सब काम अभ्यास हो जाने पर कितने सरल हो जाते हैं! सिवा उस दशा के जब कि इन कामों में कोई असाधारणता आ जावे और फिर कभी ध्यान देने की ज़रूरत ही नहीं होती। ध्यान-पूर्वक किसी काम का आरंभ कर दिया गया, और फिर वह काम आप-ही-आप होता रहा।

अब हम समझ सकते हैं कि आदतों के पड़ने से हमको कितना लाभ होता है, इससे हमारे काम कितने सरल हो जाते हैं, और हमारा कितना परिश्रम बच जाता है। थोड़ी देर के लिये कल्पना कीजिए कि आपकी सब आदतें भूल जावें तो सोचिए कितनी कठिनता आपको पड़ेगी। एक-एक बटन के बंद करने में ध्यान देना पड़ेगा, एक-एक कौल के खाने में सोचना पड़ेगा, एक-एक क़दम के चलने में प्रयास की आवश्यकता होगी, और आपका एक क्षण भी ऐसा नहीं बचेगा जिसमें आप असाधारण बातों पर विचार कर सकें।

आदतों का डालना ऐसा ही है जैसा कि बहुत-सा धन बैंक में जमा कर देना और उसके ब्याज से अपना गुज़र करना; इस दशा में आप अपना समय जिन कामों में चाहिए लगाइए, आपको अपने गुज़र के लिये बैंक से ब्याज मिलता ही जाता है। इसी तरह साधारण काम आदत के सिपुर्द कर दीजिए, और अपना समय उच्च श्रेणी के विचारों में लगाइए। माता-पिता और अध्यापक के लिये अत्यंत आवश्यक है कि जितना ही शीघ्र हो सके वे बच्चों की आदतें अच्छे और लाभदायक कामों के करने के लिये डलवाएँ। जितने ही अधिक काम आदत के सिपुर्द कर दिए जावेंगे उतना ही अधिक समय बच्चों को अन्य बातों के सोचने-विचारने के लिये मिलेगा।

अच्छी आदतों का सीखना आवश्यक है; परंतु यदि कोई बुरी आदत पड़ गई है तो उसका छोड़ देना भी आवश्यक है। आदत जितनी ही पुरानी हो जाती है उतनी ही अधिक कठिनता उसके छोड़ देने में पड़ती है, और कभी-कभी यह कठिनता इतनी अधिक हो जाती है कि आदत छूट ही नहीं सकती। जब तक मस्तिष्क में वृद्धि होती जाती है तब तक पुरानी आदतों को छोड़कर नई आदतें सीखने में बहुत अधिक कठिनता नहीं पड़ती;

परंतु जब मस्तिष्क की वृद्धि रुक जाती है तो नई आदतों का सीखना और पुरानी आदतों का छोड़ना दोनों कठिन हो जाते हैं। कोई बीस-बाईस वर्ष की उमर तक शरीर-संबंधी आदतें—खाने-पीने का ढंग, समाज-संबंधी ढंग, सफ़ाई आदि—नियत हो जाती हैं, और कोई तीस वर्ष की उमर तक जीविका-संबंधी आदतें बँध जाती हैं। इसके बाद आदतों में अधिक परिवर्तन नहीं होता; बल्कि अपनी पुरानी आदतों के लिये मनुष्य का इतना पक्षपात हो जाता है कि उनके अतिरिक्त उसे अन्य बातों से घृणा हो जाती है। मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसका यह गुण बढ़ता जाता है। दस-बीस-पचास वर्ष पहले जो बातें अच्छी मानी जाती थीं समय के परिवर्तन से वे आज अच्छी नहीं लगतीं; आज दूसरे ढंग का प्रचार है; परंतु जो लोग उस पुराने ढंग के पक्षपाती हैं उन्हें आज का ढंग कैसा लगता है? आज हम बंददार अँगरखे और दोपल्ली टोपी को जिस दृष्टि से देखते हैं क्या उससे कम घृणा की दृष्टि से पुराने लोग हमारे कोट और टाई को देखते हैं? उनकी दृष्टि में हमारे टाई और कॉलर मूर्खता की चीज़ें हैं। यह ही नहीं, बल्कि हरएक नवीन परिवर्तन को वे लोग प्रायः कुदृष्टि से देखते हैं, और यह नहीं सोचते कि जिन बातों को वे सुदृष्टि से देखते हैं उनके लिये भी उनसे दो-एक पीढ़ी पहले के लोग बड़ी घृणा रखते होंगे। यह बुड्ढे लोगों की निंदा नहीं है, बल्कि आदत का प्रभाव है; हम लोग भी जब बुड्ढे हो जावेंगे तो अपने नाती-पोतों के नए ढंगों को तुच्छ दृष्टि से देखेंगे।

किसी-किसी मनुष्य में आदत का आकस्मिक परिवर्तन हो जाता है, ऐसा परिवर्तन जवानों और बुड्ढों सभी में हो सकता है। जो आदमी कल तक अत्यंत पापी, चोर, दग़ाबाज़ था, वह पुत्र-शोक के कारण या बिना किसी प्रकट कारण के आज धर्मात्म

और सद्वृत्ति हो गया ; कदाचित् वह अपनी ही पुरानी आदतों पर हँसता है, और आश्चर्य करता है कि उसने ऐसे काम क्योंकर किए । ऐसे आदमी के लिये दुनिया दूसरी तरह की हो गई, या ऐसा आदमी ही दुनिया के लिये दूसरी तरह का हो गया। विचार-संबंधवाले अध्याय में विचारों के संबंध का एक कारण भाव-सामंजस्य भी बतलाया गया है; इस भाव-सामंजस्य के कारण उस मनुष्य के संपूर्ण विचार दूसरे ही तरह के हो गए।

थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भी ऐसे आकस्मिक परिवर्तन हुआ करते हैं; जो लड़का किसी विशेष विषय में कच्चा है, और उसमें अनवरत परिश्रम करता है उसे किसी दिन उस विषय का दरवाज़ा-सा खुल जाता है, उसे अपनी पुरानी कचाई पर हँसी आती है ।

नई आदतों के सीखने और पुरानी आदतों के छोड़ने में निम्नलिखित उपदेश हितकारी होंगे:—

(१) जितनी सबलता और निश्चय के साथ हो सके प्रारंभ करो । आदत के सीखने या छोड़ने का निश्चय इस प्रवाह के साथ करो कि जिसमें उलटा तैरना असंभव हो; दृढ़ प्रतिज्ञा कर लो; कुछ प्रतिष्ठित लोगों से भी कह दो ताकि उस प्रतिज्ञा के छोड़ने में लज्जा आवे ; और जिस प्रकार अनुकूल उत्तेजना बढ़े वही काम करो ।

(२) जब तक नई आदत अच्छी तरह पड़ न जाय या पुरानी आदत छूट न जाय तब तक अभ्यास में कोई बाधा या व्यतिक्रम न होने दो; प्रयास-पूर्वक ध्यान देते रहो ; प्रतिकूल बातों को पास न फटकने दो; चरित्र दृढ़ रक्खो; अपने निर्णय से विचलित न हो। सूत का गोला अगर हाथ से छूट पड़े तो जितना दस मिनट में लपेटा था उतना एक क्षण में ढीला हो जायगा; इसी तरह आदत के सीखने में यदि थोड़ा-सा भी व्यतिक्रम पड़ेगा तो उपार्जित कमाई नष्ट-प्राय हो जायगी ।

(३) जिस बात के लिये इरादा करो या जिस आदत के सीखने या छोड़ने की इच्छा हो उसके लिये ज्यों ही अवसर मिले काम कर चलो। केवल इरादा करने से कोई लाभ नहीं, बल्कि उससे उलटी हानि होती है, अर्थात् अपनी इच्छा को कार्य में परिणत करने की शक्ति निर्बल हो जाती है। दुनिया में सबसे शक्तिहीन मनुष्य वही है जो प्रतिदिन इरादे करता है, और कभी उन्हें पूर्ण करने का उद्योग नहीं करता; 'मन-मोदक नहिं भूख बुताई।'

(४) बच्चों को सूखा उपदेश बहुत न दो। अनुकूल समय की ताक में रहो, और जब ऐसा समय आ जावे तो बच्चों से काम करा चलो, साथ-ही-साथ उन्हें सोचने-विचारने का मौक़ा दो। कार्य प्रधान है, उपदेश प्रधान नहीं; उपदेश तो कार्य का साधन है।

(५) प्रतिदिन थोड़ा-सा अभ्यास करके प्रयास-शक्ति या परिश्रम-शक्ति को प्रबल रक्खो। पानी में डूबने का मौक़ा कभी ही पड़ता है, परंतु यदि व्यर्थ के लिये तैरने का अभ्यास नहीं किया गया तो डूबते समय पछताना ही पड़ेगा। जो सौदागर जहाज़ पर माल ले जाते हैं, वे अपने माल का बीमा कराते हैं, और हमेशा बीमा के लिये फ़ीस देते हैं, उससे उन्हें कोई लाभ नहीं होता, परंतु यदि जहाज़ डूब जावे तो उन्हें अपने माल का पूरा मूल्य मिलता है, और तभी बीमा की फ़ीस देने का आनंद मालूम होता है। इसी प्रकार यदि प्रयास करने का अभ्यास बना रहे तो किसी समय पर कोई भी कठिनाई आ पड़े, अभ्यासी आदमी उस कठिनाई को सुख-पूर्वक सह लेगा। इसीलिये छोटी-छोटी बातों में भी उचित परिश्रम करने और उचित ध्यान देने की बान बच्चों में होनी चाहिए, इन्हीं छोटी-छोटी बातों के समूह का नाम जीवन है, और यदि हरएक छोटी बात में सफलता न होगी तो जीवन में क्या सफलता हो सकती है? प्रयास करना ही सदाचार की जड़ है।

अध्याय ११

रुचि और अवधान

देवदत्त को खेलने में बड़ी रुचि है; रामदीन का जी मिट्टी के खिलौने बनाने में बहुत लगता है; यशोदा अपने दुपट्टे पर फूल काढ़ने में दीवानी है। इन बातों का यह मतलब है कि इन बच्चों को इन-इन कामों के करने में विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता; ये काम इन्हें ऐसे अच्छे लगते हैं कि इनका मन आप-से-आप और कामों से हटकर इन कामों में लगता है, और इन्हें कोई कष्ट नहीं होता। किसी काम में इस तरह मन लगने का नाम 'रुचि' या 'मनलगन' है।

बच्चों की रुचि इंद्रिय-विषयक पदार्थों में होती है—कोई नई चीज़ देखने में आवे, कोई अद्भुत शब्द सुनने में आवे, कोई विचित्र काम किया जा रहा हो, तो बच्चों की मानसिक वृत्ति और बातों से हटकर स्वभावतः इन्हीं बातों में लग जाती है। अध्यापक जो कुछ कहता है उसमें बच्चों का जी कम लगता है, परंतु वह जो कुछ करता है उसमें उनकी बड़ी रुचि होती है। कही हुई बात का सुनना बच्चों को इतना अच्छा नहीं लगता जितना बताए हुए काम का करना। अनुभव से मालूम हुआ है कि यदि किसी छोटे बच्चे को अपने पास बुलाओ, और वह न आवे तो उसे पुस्तक, लोटा, छड़ी आदि कोई चीज़ लेकर आने को कहो, और वह अवश्य ही वही वस्तु लेकर आवेगा। इन्हीं कारणों से शिक्षा में यथार्थ वस्तुओं, चित्रों और नमूनों आदि का होना आवश्यक है।

पहले बतलाया जा चुका है कि बच्चे अपनी प्राकृतिक शक्ति को किसी-न-किसी काम की ओर झुकाते हैं ; इस काम में उनकी स्वाभाविक रुचि होती है ; और जब कि इस काम का संबंध किसी और काम से कर दिया जाता है तो यह दूसरा काम भी रुचि-कारक हो जाता है। इसी प्रकार संबंध जोड़ते-जोड़ते विषय को जितना चाहें बढ़ा सकते हैं, और रुचि स्थिर रख सकते हैं। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि विषय के बढ़ने से पहले-वाले काम में रुचि कम नहीं होती, अर्थात् रुचि की समता शक्कर के साथ नहीं दी जा सकती कि जिसमें जितना ही अधिक जल मिलावें उतनी ही मिठाई में कमी आ जावे, किंतु रुचि की समता आग की चिनगारी से दे सकते हैं जिसमें थोड़ी-थोड़ी करके रुई, लकड़ी आदि बढ़ाते रहने से अग्नि की राशि बढ़ती ही जाती है । इस प्रकार जिन बातों में स्वाभाविक रुचि नहीं होती उनके साथ स्वाभाविक रुचिवाली बातों का संबंध कर देने से उनमें भी रुचि पैदा हो जाती है ; और यह रुचि ऐसी ही स्वाभाविक बन जाती है जैसी कि पहले के काम में थी।

मनुष्य चाहे बच्चा हो या जवान या बुड्ढा, उसकी सबसे बड़ी रुचि आत्मविषयक बातों में होती है। जो चीज़ें साधारण समय में अत्यंत अरोचक और रूखी मालूम होती हैं वे भी आत्मसंबंध से रुचि-कारक हो जाती हैं। रेल की समय-सूची कितनी रूखी चीज़ है जिसमें सिवा स्टेशनों के नामों और गाड़ी छूटने के समयों के और कुछ नहीं रहता ; परंतु जब किसी को रेल द्वारा यात्रा करनी होती है तो उसके लिये वही सूची कितनी रोचक हो जाती है! सरकारी गज़ट में कितनी ही परीक्षाओं के फल छपते हैं, परंतु जब तक किसी निजी मनुष्य का परीक्षा-फल न देखना हो उसका महत्त्व बिलकुल ही नहीं माना जाता। हरएक व्यवसायी

मनुष्य का जी अपने व्यवसाय की अरोचक बातों में भी है, यद्यपि ये बातें अन्य लोगों को असहनीय प्रतीत होती हैं।

यही हाल बच्चों का भी है। उन्हें पुस्तक, क़लम, स्लेट आदि मँगनी दीजिए, और फिर वही चीज़ें उन्हें दे डालिए, देखिए कि उनके भावों में क्या अंतर होता है। चीज़ों पर अपना अधिकार समझकर उनको बड़ा आनंद मिलता है, वे उनकी विशेष रक्षा करने लगते हैं। इससे अध्यापक को बड़ी सहायता मिल सकती है। वे अध्यापन का प्रारंभ बच्चों की आत्मविषयक बातों से कर सकते हैं, और फिर उन्हीं आत्मविषयक बातों का संबंध क्रमशः उन बातों से कर सकते हैं जिन पर उन्हें शिक्षा देना है। परंतु इस काम में अध्यापक की योग्यता एक आवश्यक बात है। बहुत-से अध्यापकों को एक-एक बात का संबंध अन्य-अन्य बातों से सैकड़ों तरह से सूझता है, रुचि बढ़ाने के लिये उन्हें अनेकों क़िस्से-कहानियाँ मालूम हैं, और ज्ञात तथा अज्ञात बातों में वे स्वाभाविक संबंध पैदा कर सकते हैं। बहुत-से ऐसे हैं जो चिल्लाकर और छड़ी से डराकर बच्चों के मन में विषय ठूँसना चाहते हैं; उन्हें अधिक ज्ञान-उपार्जन करने की आवश्यकता है।

अध्यापक चाहे जितना योग्य हो और हर विषय को रोचक बनाने के लिये वह चाहे जितना प्रयत्न करे, फिर भी बच्चों का ध्यान विषय पर से हट ही जाता है। ऐसे समय में उन्हें हठ-पूर्वक और प्रयास-पूर्वक अपना ध्यान और बातों से खींचकर उसी विषय पर लगाना पड़ता है। इस क्रिया के नाम, ध्यान देना, मनोयोग, समाहितात्मता, चित्त की एकाग्रता, मनःस्थिरता, संकेंद्रण, अवधान आदि हैं। इस क्रिया में प्रयत्न करना पड़ता है, अर्थात् मानसिक परिश्रम उठाना पड़ता है।

अवधान दो प्रकार का होता है—एक अप्रयास या अनैच्छिक,

दूसरा सप्रयास या ऐच्छिक। अप्रयास अवधान वह है जिसमें विषय स्वयं ही रोचक बना रहे और ध्यान जमाने के लिये मानसिक प्रयत्न न करना पड़े। सप्रयास अवधान वह है जिसमें चित्त को हठ-पूर्वक और विषयों से खींचकर किसी विशेष विषय में लगाया जाय। अप्रयास अवधान की मात्रा जितनी ही अधिक होगी उतना ही कम परिश्रम सप्रयास अवधान के लिये करना पड़ेगा, और कक्षा का काम बड़ी सरलता के साथ चलेगा।

सप्रयास अवधान क्षणिक क्रिया है। घोड़े का सवार बाग़ में झटका देकर घोड़े की चाल तेज़ करता है; एक झटके के प्रभाव से घोड़ा कुछ दूर तक तेज़ रहता है; जहाँ उसमें फिर मंदता आती है सवार फिर एक झटका दे देता है, फिर कुछ दूर के लिये फ़ुरसत मिल जाती है। इसी प्रकार जब-जब घोड़े की गति मंद होने लगती है तभी सवार झटका देता है; वह रास को बराबर खींचे हुए नहीं रहता। यही हाल सप्रयास अवधान का है; प्रयास से, प्रयत्न से, परिश्रम से ध्यान को एक ही झटके में प्रस्तुत विषय पर लगा देना पड़ता है; तब कुछ देर तक अप्रयास अवधान बना रहता है, अर्थात् विषय में रुचि बनी रहती है; जब ध्यान हटने लगता है, फिर एक झटका लगा दिया जाता है; इसी तरह बराबर किया जाता है। सप्रयास ध्यान लगातार नहीं जारी रह सकता।

अब प्रश्न पैदा होता है कि सप्रयास अवधान के झटके से जब ध्यान किसी विषय पर आकर्षित हो जाता है तो उसी विषय पर बिना प्रयास जमा कैसे रहता है। इसका उत्तर यह है कि वह विषय प्रतिक्षण नया होता रहता है, शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकलती रहती हैं, अनेक नए प्रश्न पैदा होते रहते हैं, सारांश, उसमें परिवर्तन होता रहता है। इसी परिवर्तन या नवीनता के कारण ध्यान अप्रयास रूप से उस विषय पर जमा रहता है। यदि इस प्रकार

की नवीनता लगातार न होती रहे तो मन उस विषय से हट जाता है। एक साधारण पत्ती लेकर उस पर एक बार प्रयास के साथ चित्त लगा दो ; कभी उसके आकार का प्रश्न पैदा होगा, कभी बनावट का, कभी रंग का, कभी नसों का, और कभी डंठल का। यदि इस प्रकार के कोई प्रश्न मन में न उठें तो वह उस पर जम नहीं सकता।

अच्छा अध्यापक एक बार बच्चों का ध्यान हठ-पूर्वक किसी विषय पर खींचता है, फिर अनेकों प्रश्नों और संकेतों के द्वारा उसी विषय पर उनका अप्रयास ध्यान स्थिर रखता है। बुरा अध्यापक बार-बार चिल्लाता है और डर दिखाकर बार-बार सप्रयास अवधान पर झटके लगाता है। मगर चूँकि वह विषय में नवीनता नहीं पैदा कर सकता, इसलिये बच्चों का ध्यान उस विषय पर आ-आकर चला जाता है। फल यह होता है कि बच्चे अल्प काल ही में थक जाते हैं और अध्यापक से उकता जाते हैं ; ऐसी दशा में बच्चों को क्रोध भी पैदा हो जाता है।

बहुत-से प्रतिभा-शाली मनुष्यों का ध्यान अपने अनुकूल विषय पर घंटों लगा रहता है ; और ऐसे ही मनुष्यों के लिये लोग कहा करते हैं कि इनमें असाधारण अवधान-शक्ति है। यह सत्य है, परंतु उनमें अप्रयास अवधान की मात्रा बहुत अधिक और सप्रयास अवधान की मात्रा बहुत कम है। जिस विषय में वे अपना ध्यान इतने दीर्घ काल तक रख सकते हैं उस विषय की भिन्न-भिन्न बातों में उन्होंने अनेकों संबंध पैदा कर लिए हैं ; इसी-लिये उस विषय पर एक बार सप्रयास ध्यान देते ही वे संबंध बराबर काम किया करते हैं और वह विषय चेतना के केंद्र से हटने नहीं पाता। प्रायः देखा गया है कि ऐसे प्रतिभा-शील मनुष्यों को सप्रयास अवधान देने का अभ्यास बहुत कम होता

है ; जिस विषय के वे विशेषज्ञ हैं उसके अतिरिक्त किसी विषय पर उनका ध्यान ही नहीं लगता ; उनके सामने चाहें जो बात छेड़ो, घुमा-फिराकर वे अपने ही विषय पर आ जावेंगे ; उनका मन अन्य विषयों पर लगेगा ही नहीं, क्योंकि अन्य विषयों का विचार-भंडार उनके मन में नहीं है।

साधारण मनुष्यों को इससे अधिक सप्रयास अवधान के प्रयोग की आवश्यकता होती है ; अपने व्यवसाय का काम कठिन होने पर भी उन्हें उसे चित्त लगाकर करना पड़ता है।

सप्रयास अवधान की सबलता व्यक्तिगत बात है ; कोई-कोई लोग थोड़ी-थोड़ी बातों में बल-पूर्वक ध्यान दे सकते हैं, किसी-किसी का ध्यान अपरिचित बातों पर जमता ही नहीं ; कुछ लोग बहुत समय तक एक ही विषय पर चित्त लगा सकते हैं, किसी-किसी का मन एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। यद्यपि यह अवधान-शक्ति एक आवश्यक शक्ति है, तथापि इसके कम होने पर बहुत दुःख नहीं करना चाहिए। मनुष्य का महत्त्व कई बातों से मिलकर होता है ; यदि उसकी स्वाभाविक स्मरण-शक्ति अच्छी है, यदि उसमें 'लाग' है अर्थात् किसी काम के करने की उत्कट इच्छा है तो अवधान-शक्ति की कमी उसके काम में बहुत बाधा नहीं डालेगी। उत्कट इच्छा के सामने किसी का महत्त्व नहीं ठहरता। यदि अध्यापक बच्चों के मन में किसी काम के करने की उत्कट इच्छा पैदा कर सके तो दो-एक शक्तियों के कम होने पर भी बच्चे अपना काम पूरा कर लेंगे। इसीलिये ऊपर कहा गया है कि बच्चों के काम और उनकी आगामी सांसारिक उन्नति का दृढ़ संबंध उनके मन में जमा देना चाहिए।

कुछ ऊपरी उपाय भी हैं जिनसे बच्चों का भटकता हुआ ध्यान आकर्षित किया जा सकता है ; जैसे, बैठने का स्थान बदल दो,

बैठने का ढंग बदल दो, प्रश्न करने का ढंग बदल दो, पढ़ी हुई चीज़ को दोहराने लगो, उदाहरण दो, नक़्शे, चित्र आदि दिखलाओ, वाक्यों के कुछ शब्द स्वयं कहकर कुछ शब्द बच्चों से कहलाओ, पहले एक-एक बच्चे से अलग-अलग उत्तर लो, तब सबसे एक ही साथ कहलाओ, मंद बच्चों को डाँट दो, और स्वयं चुस्ती रक्खो। यह भी देख लो कि कमरे में शुद्ध वायु आ रही है या नहीं; न आ रही हो तो कुल दरवाज़े-खिड़कियाँ खोल दो, सर्दी-गर्मी आदि के दुःख से बच्चों को बचाओ, यदि वे बड़ी देर बैठे रहे हों तो उन्हें खड़े करके एकआध मिनट ड्रिल की तरह उनसे हाथ-पैर इधर-उधर हिलवाओ।

परंतु ये ऊपरी उपाय केवल कभी-कभी के लिये हैं; हर समय इनसे काम लेने से ये भी मंद हो जाते हैं। यथार्थ रहस्य तो अध्यापक की उस शक्ति में है, जिससे वह सूखे विषय को भी रोचक बना सकता है। बच्चों की रुचि एक बार किसी विषय में हो जाय, तो फिर उनका ध्यान उस विषय में अवश्य ही लगेगा।

अध्याय १२

निर्णय-शक्ति और तर्क-शक्ति

दो विचारों के बीच में जो संबंध है उसके जानने का नाम निर्णय है। 'गाय एक जीवधारी है', इस वाक्य में 'गाय' उद्देश्य है अर्थात् गाय के बारे में कुछ कहा गया है, 'एक जीवधारी' विधेय है, अर्थात् वाक्य का वह अंश है जो उद्देश्य गाय के बारे में कहा गया है; 'है' संबंध-सूचक शब्द है। इस वाक्य में पहला विचार गाय के विषय में है, और दूसरा विचार जीवधारी के विषय में, और इन दोनों विचारों का संबंध प्रकट किया गया है। इसी प्रकार 'झूठ बोलना अच्छा नहीं है', इस वाक्य में 'झूठ बोलना' उद्देश्य है, और पहला विचार है; 'अच्छा' विधेय है, और दूसरा विचार है, 'नहीं है' संबंध-सूचक शब्द-समूह है।

इन्हीं दोनों वाक्यों के विचारों को चित्र द्वारा यों प्रकट कर सकते हैं—

'गाय एक जीवधारी है' 'झूठ बोलना अच्छा नहीं है'

'जीवधारी' होने के लिये जितने लक्षण चाहिएँ वे सब लक्षण गाय में मिलते हैं, इसलिये गाय एक जीवधारी है। परंतु गायों के अतिरिक्त और भी जीवधारी होते हैं, इसलिये बड़े वृत्त जीवधारी के भीतर छोटा वृत्त गाय बनाया गया है। दूसरे चित्र में दोनों वृत्त पृथक् हैं क्योंकि 'अच्छा' फल देनेवाले जितने काम हैं उनमें 'झूठ बोलना' नहीं आता।

निर्णय तक पहुँचने के लिये दो बातें होती हैं, (१) मिलान करना और (२) निश्चय करना। पहले गाय और जीवधारियों का मिलान किया गया और जीवधारी होने के लिये जो लक्षण चाहिएँ वे गाय में पाकर निश्चय किया गया कि गाय एक जीवधारी है। दूसरे उदाहरण में झूठ बोलने तथा अच्छा फल देनेवाले कामों का मिलान किया गया, और 'अच्छाई' का कोई लक्षण 'झूठ बोलने' में न पाकर निश्चय किया गया कि 'झूठ बोलना' अच्छा नहीं है।

कुछ बातों का निर्णय स्वाभाविक होता है, अर्थात् बिना सोच-विचार के हो जाता है, जैसे 'आग जलानेवाली चीज़ है'। कुछ का निर्णय सप्रयास होता है, अर्थात् सोचने-विचारने पर होता है, जैसे 'बिल्ली एक प्राणी है'। इसलिये निर्णय के दो भेद हुए—स्वाभाविक और सप्रयास।

कई कारण ऐसे हैं जिनसे शुद्ध निर्णय में बाधा होती है—(१) स्पष्ट भावों या विचारों का अभाव। निर्णय में विचारों का मिलान करना होता है, इसलिये यदि विचार कच्चे या अशुद्ध या अधूरे या अस्पष्ट होंगे तो मिलान पूरा नहीं हो सकेगा, और निर्णय अशुद्ध होगा। बच्चों के निर्णय प्रायः इसी कारण अशुद्ध होते हैं, इसीलिये अध्यापक को विशेष ध्यान विचारों की भर्ती और सफ़ाई पर रखना पड़ता है। 'व्यवसाय'वाले अध्याय में इस बात पर फिर विचार किया जायगा।

(२) विचारों की परीक्षा करने के लिये पर्याप्त समय न मिलना। जब पूरा समय नहीं मिलता तो विचारों की परीक्षा पूर्ण नहीं होती और निर्णय विश्वास योग्य नहीं होता। जल्दबाज़ी से काम बिगड़ जाता है। इसीलिये उमर के हिसाब से और मानसिक विकास के हिसाब से विचारों की परीक्षा के लिये काफ़ी समय देना चाहिए।

(३) दूसरों के कहे हुए पर भरोसा। यदि दूसरों की कही हुई बात पर भरोसा न किया जाय तो संसार से श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, आज्ञापालन आदि का लोप ही हो जाय। तथापि बिलकुल ही दूसरों की बातों के भरोसे रहना अपनी स्वतंत्रता खोना है। जो विचार सरलता से पैदा किए जा सकते हैं, और जिनकी परीक्षा के लिये पर्याप्त समय दिया जा सकता है, उनके लिये दूसरों की बात का प्रमाण मानना अच्छा नहीं जँचता। पुस्तक-संसार से ही नहीं, किंतु यथार्थ संसार से भी परिचय प्राप्त करने में यह दोष नहीं रहता।

(४) पक्षपात। किसी-किसी बात के लिये इच्छा इतनी प्रबल होती है, कि प्रतिकूल विचारों के होते हुए भी, इच्छित निर्णय ही पर पहुँच जाते हैं। धार्मिक और राजनैतिक निर्णयों में प्रायः यह दोष होता है। छात्रों के विषय में अपनी आंतरिक सम्मति स्थापित करने में अध्यापक लोग भी प्रायः पक्षपात कर जाते हैं : इस दोष से यथाशक्ति बचना चाहिए।

इंद्रिय-जन्य ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) में निर्णय सम्मिलित रहता है, क्योंकि जब तक मिलान और निश्चय न किया जाय तब तक बच्चे को यह ज्ञान नहीं हो सकता कि यह माँ है, यह माँ नहीं है, यह आग है जो जलाती है, यह खिलौना है जो नहीं जलाता है, इत्यादि। ज्यों-ज्यों निर्णय-शक्ति से अधिकाधिक काम

लिया जाता है त्यों-त्यों वाक्य भी स्पष्ट होता जाता है, और पूरा निर्णय पूरे वाक्य में प्रकट किया जाता है। परंतु कभी-कभी बच्चे पूरा वाक्य तो कह देते हैं, पर उसके यथार्थ भाव से उनका परिचय नहीं होता ; संभव है कि ऐसे वाक्य उन्होंने अन्य लोगों के मुख से सुने हों, और बचपन की उत्तम स्मृति के कारण उन्हें याद रख लिया हो । इसीलिये यह आवश्यक है कि उनसे मन के भाव पूर्ण वाक्यों में प्रकट कराए जायँ, और प्रश्नों के द्वारा परीक्षा भी कर ली जाय कि वाक्यों का भाव ठीक-ठीक तरह से उनके मन में आ गया है या नहीं।

निर्णय-शक्ति के सुधार में इन बातों पर भी ध्यान रहे— (१) स्मरण-शक्ति पर बहुत बोझ न डाला जाय, ऐसा न हो कि बहुत-सी असंबद्ध बातें बच्चों को याद करा दी जायँ और यथार्थ निर्णय का अभाव हो। ठीक निर्णय के लिये ठीक संबंध का खोज निकालना आवश्यक है। (२) इंद्रिय-जन्य ज्ञान और विचार से पहले निर्णीत विषय का बतला देना निर्णय-शक्ति के विकास में बाधा डालता है । जैसे पहले यह बतला देना कि गाय चौपाया प्राणी है, और फिर कहना कि गाय को देखकर इस बात का निश्चय कर लो, ठीक नहीं है। इसका क्रम यह होना चाहिए कि बच्चे गाय को देखकर निश्चय करें कि उसके चार पैर होते हैं, तब अन्य चौपायों से मिलान करके निश्चय करें कि गाय चौपाया प्राणी है। (३) पुस्तकों में लिखी हुई बातों का भरोसा आँखें बंद करके नहीं करना चाहिए। जहाँ तक हो सके स्वयं निरीक्षण करके निर्णय करना चाहिए । पुस्तकें बच्चों के किए हुए निर्णयों की जाँच के लिये हैं, न कि बच्चों के बदले निर्णय करने के लिये।

जिस तरह विचारों के संबंध जानने का नाम निर्णय है, उसी तरह निर्णयों के संबंध जानने का नाम तर्क है। 'सब घन पदार्थ

गर्मी से फैलते हैं', 'लोहा एक घन पदार्थ है'; इन दो निर्णयों में यह संबंध है कि दोनों में घन पदार्थों के लिये कुछ बात कही गई है; प्रथम वाक्य में घन पदार्थों का गर्मी से फैलना, और द्वितीय वाक्य में लोहे का घन पदार्थ होना। इनका संबंध यह है कि लोहा भी घन पदार्थ होने के कारण गर्मी से फैलता है। जिस शक्ति से हमको यह संबंध मालूम हुआ उसका नाम 'तर्क' है।

निर्णयों का संबंध दो प्रकार से जाना जा सकता है—

प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
लोहा गर्मी से फैलता है। पीतल गर्मी से फैलती है। राँगा गर्मी से फैलता है। शीशा गर्मी से फैलता है। ——— ऊपर लिखे हुए सब पदार्थ घन पदार्थ हैं। ——— इसलिये सब घन पदार्थ गर्मी से फैलते हैं।	सब घन पदार्थ गर्मी से फैलते हैं। ——— लोहा एक घन पदार्थ है। ——— इसलिये लोहा गर्मी से फैलता है।
आगमन ; अनुमान	निगमन ; अनुमान

पहला प्रकार आगमन कहलाता है। इसमें किसी जाति के विशेष उदाहरणों में कोई गुण देखकर उस संपूर्ण जाति में वही गुण होने का निश्चय किया जाता है; जैसे लोहा, पीतल, राँगा, शीशा में गर्मी से फैलने का गुण देखकर, संपूर्ण जाति घन पदार्थों में गर्मी से फैलने का गुण निश्चित किया जाता है। इसमें अपने अनुभव से बाहर की बातों को मान लेना पड़ता है, जैसे ताँबा, सोना, चाँदी आदि पर प्रयोग करके नहीं देखा गया कि ये घन

पदार्थ भी गर्मी से फैलते हैं या नहीं : केवल कुछ ही घन पदार्थों को देखकर अनुमान कर लिया गया है : इस प्रकार का अनुमान इस विश्वास के कारण सही माना जाता है कि संसार के जाति-जाति के प्राकृतिक पदार्थ समान गुणवाले होते हैं। इस प्रकार का निश्चय करने के लिये जितने अधिक उदाहरणों पर हो सके परीक्षा के लिये प्रयोग करना चाहिए।

दूसरा प्रकार निगमन कहलाता है। इसमें दिए हुए दो वाक्यों की सत्यता के द्वारा तीसरे वाक्य की सत्यता का निश्चय किया जाता है। जिस वाक्य में संपूर्ण जाति के किसी गुण का वर्णन होता है उसे 'व्यापक पूर्वावयव' कहते हैं (जैसे संपूर्ण जाति 'घन पदार्थों' के गर्मी से फैलने का गुण वर्णन किया गया है) और जिस वाक्य में यह दिखलाया जाता है कि कोई विशेष पदार्थ उसी जाति का भेद है उस वाक्य को 'व्याप्य-पूर्वावयव' कहते हैं (जैसे लोहे का 'घन पदार्थ' होना वर्णन किया गया है)। तीसरा वाक्य अनुमान कहलाता है।

अब दोनों प्रकार के अनुमानों की तुलना करके हमें देखना चाहिए कि अध्यापन के लिये कौन-सा अनुमान अधिक अच्छा होता है।

आगमन	निगमन
१—मंद काम है। विविध उदाहरणों की परीक्षा करके संपूर्ण ज्ञान स्वयं प्राप्त करना पड़ता है।	१—शीघ्र काम है। यथा दूसरों के प्राप्त किए हुए ज्ञान से लाभ उठाता है।
२—इससे नया ज्ञान प्राप्त होता है।	२—कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त होता।
३—यह नवीन अनुसंधान की प्रणाली है।	३—यह जाँच करने की प्रणाली है।

४—स्वाभाविक प्रकार है। यथार्थ में बच्चा पहले-पहल अलग-अलग वस्तुओं पर ध्यान देता है, तब समान गुणवाली वस्तुओं को एक जाति समझकर उस जाति के सामान्य गुणों का निश्चय करता है।	४—स्वाभाविक प्रकार नहीं है, क्योंकि इसमें सामान्य ज्ञान होने से पहले ही निर्णय मालूम हो जाता है।
५—शक्तियों के सुधार में इस पर पूरा भरोसा कर सकते हैं, क्योंकि थोड़ा-थोड़ा करके सामान्य नियम तक पहुँचते हैं। सामान्य नियम का पूरा ज्ञान बच्चों को हो जाता है जिससे वे उसका प्रयोग अन्य उदाहरणों पर भी ठीक-ठीक कर सकते हैं।	५—पूरा भरोसा नहीं कर सकते। बहुत-से साधारण नियम इतने कठिन होते हैं कि निगमन के द्वारा उनका प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। बच्चे प्रायः शब्द रट लेते हैं, परंतु भाव नहीं समझते, इसीलिये अन्य उदाहरणों पर अशुद्ध प्रयोग करते हैं।
६—इस प्रणाली से बच्चों का आत्मविश्वास पक्का होता है; वे अपने इंद्रिय-जन्य ज्ञान और निर्णय आदि पर भरोसा करके स्वतंत्र रहते हैं।	६—इस प्रणाली से परावलंबन की आदत पड़ती है; और विचारों तथा प्रयोगों की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है।

शिक्षा के लिये दोनों प्रकार के अनुमानों का मिश्रण सबसे अच्छा है, क्योंकि एक ही प्रकार की तर्क-शक्ति के विकास से आधी ही तर्क-शक्ति आती है। उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट की जाती है—

अकर्मक और सकर्मक धातुओं के भेद पर एक पाठ पढ़ाना है।

१—उदाहरण—कुछ उदाहरण इस प्रकार के लिख दो (श्यामपट पर)

(क) मोहन सोता है ।

(ख) सोहन चिट्ठी लिख रहा है ।

(ग) रहीम ने पुस्तक फाड़ डाली ।

(घ) पार्वती अपना कुत्ता सीती थी ।

(ङ) लड़के तैर रहे थे ।

(च) हम तुम्हें हरा सकते हैं ।

(छ) चले क्यों नहीं आते ।

(ज) थोड़ा दूध पी लीजिए ।

२—निरीक्षण या परीक्षा । बच्चों को एक-एक उदाहरण पर विचार करने दो । उनका ध्यान आकर्षित करो कि (क) में 'सोने' के लिये कर्ता मोहन के सिवा और किसी नाम की ज़रूरत नहीं, (ख) में 'लिखने' के लिये कर्ता सोहन के अलावा 'चिट्ठी' की भी ज़रूरत है ; इसी तरह हर उदाहरण के लिये करो ।

३—फल । कुछ धातुओं का अर्थ तब तक पूरा नहीं होता जब तक कर्ता के अलावा कोई और नाम न आवे ; कुछ का अर्थ पूरा हो जाता है । इसीलिये धातुओं के दो भेद होते हैं—

(१) बिना अन्य-नाम के अपूर्ण, (२) बिना अन्य-नाम के पूर्ण ।

४—परिभाषा । इस नाम को 'कर्म' कहते हैं, और धातुओं के दोनों भेदों को क्रम से (१) सकर्मक, और (२) अकर्मक कहते हैं ।

५—प्रयोग । दोनों तरह की धातुओं के प्रयोग करनेवाले अन्य उदाहरण दो, और बच्चों से उन्हें पहचनवाओ, कारण पूछो । बच्चों से बहुत-से उदाहरण बनवाओ जिनमें दोनों तरह की धातुओं के प्रयोग हों ।

ऊपर के पाठ में उदाहरण, निरीक्षण, फल और परिभाषा तक आगमन-शक्ति से और प्रयोग में निगमन-शक्ति से काम लिया गया है। इस मिश्रित रीति में बच्चों को स्वयं अवसर मिलता है कि वे अपने साधारण नियम या परिभाषाएँ आदि बनावें; और जब वे एक बार बना चुके तो उनका प्रयोग अच्छी तरह कर सकते हैं। इस प्रकार बच्चों को हर बात का कारण मालूम हो जाता है, और उनकी तर्क-शक्ति का विकास बहुत अच्छी तरह होता है। जहाँ तक हो सके इसी मिश्रित रीति से काम लेना चाहिए।

इस रीति से काम लेने में समय अवश्य अधिक लगता है; परंतु कुछ ही दिन तक। जब उनका अभ्यास हो जाता है तो वे स्वयं ही हर विषय को इसी रीति से जानने का उद्योग करते हैं। सबसे अच्छी बात यह है कि इस रीति से जितना काम होता है सब पक्का होता है, और उसमें तोता-रटन की बुराई नहीं आने पाती।

अध्याय १३

व्यवसाय

मुझे आज पाँच बजे एक आवश्यक सभा में पहुँचना है, दो मील चलकर जाना होगा, चार बज चुके हैं, पानी बरस रहा है, और मैं अपने घर पर मित्र-मंडली में बैठा हुआ सुख से बातें कर रहा हूँ। सभा को जाऊँ या न जाऊँ?

जाना आवश्यक है; सभा रुक नहीं सकती; वचन दे चुका हूँ; जो व्यवस्था मैं 'पास' कराना चाहता हूँ वह बिना मेरे गए 'पास' न होगी; यदि व्यवस्था पास न हुई तो मेरा पक्ष निर्बल हो जायगा; लोग मेरे न पहुँचने की शिकायत करेंगे; अभी पहुँचने-भर के लिये समय है।

परंतु कैसे जाऊँ? पानी बरस रहा है; कपड़े भीग जावेंगे, कदाचित् सर्दी लग जाय; ऐसी वर्षा में कोई सदस्य नहीं जायगा; ऐसे समय में सभा कैसे होगी? इधर मित्र लोग भी घर पर बैठे हैं, इन्हें छोड़कर जाना अच्छा नहीं प्रतीत होता; समय भी अब कम रह गया है।

मेरे मन में विरुद्ध विचार उठ रहे हैं, कभी जाने का इरादा होता है, कभी न जाने का। इस दशा में इन विरुद्ध विचारों को सोच-समझकर जाने या न जाने का अंतिम निश्चय कर लेना व्यवसाय है या व्यवसायात्मिका बुद्धि है। इसी को इच्छा, चाह, कांक्षा, आकांक्षा, निर्णय, इरादा, निश्चय आदि भी कहते हैं।

अब देखना चाहिए कि व्यवसायात्मिका बुद्धि का उदय कैसे हुआ। इसके लिये सबसे प्रथम भावों, विचारों आदि का

भांडार चाहिए; फिर हरएक भाव पर, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, सप्रयास अवधान देना चाहिए। ऐसा होने से अनुकूल और प्रतिकूल भावों में परस्पर संघर्ष होगा, एक प्रकार के भाव दूसरे प्रकार के भावों को रोकेंगे। तब निर्णय करना होगा। यदि कार्य करानेवाले भावों की प्रबलता होगी तो कार्य करने का निश्चय किया जायगा; यदि कार्य रोकनेवाले भावों की प्रबलता होगी तो कार्य रोक लिया जायगा। अंतिम निर्णय हो जाने पर भी कभी-कभी वह निर्णय दुःखप्रद प्रतीत होगा, और उसका उत्तम परिणाम जानकर भी उसके करने को जी नहीं चाहेगा। इस दशा में फिर उस काम के करने या न करने में हठ-पूर्वक ध्यान देना पड़ेगा।

अब हर एक अंग पर पृथक्-पृथक् विचार करना चाहिए।

भावों या विचारों का भांडार—किसी काम के करने या न करने के लिये पूरा निर्णय तभी हो सकता है जब तत्संबंधी सभी बातें, अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही, ज्ञात हों। बच्चा अपने पिता के शत्रु की दी हुई मिठाई भी उसी हर्ष के साथ खाने पर उद्यत हो जाता है जैसे कि स्वयं पिता की दी हुई मिठाई खाने पर, क्योंकि उसे इस संबंध में शत्रु-मित्र का ज्ञान नहीं है, और न उसके विचार उस परिणाम तक पहुँचते हैं जो शत्रु की दी हुई मिठाई के खाने से हो सकता है। विषूचिका आदि उपसर्गों के समय सरकार की ओर से कुँओं में लाल दवा डाली जाती है जिससे बीमारी के कीटाणुओं का नाश हो जाय, और जल शुद्ध होकर बीमारी न पैदा करे; परंतु गँवार लोग प्रायः इसके विरोधी होते हैं। उनका निश्चय होता है कि जल में विष मिलाया जाता है, और इस विष का मिलाना न्याय-विरुद्ध है; परंतु वे यह नहीं समझते कि इस थोड़े-से विष के कारण उस बड़े विष से बच सकते हैं जो देखते-देखते गाँव-के-गाँव साफ़ कर देता है। इन गँवारों का निर्णय मानने के

योग्य नहीं, क्योंकि इन्हें तत्संबंधी पूरा ज्ञान नहीं। कठिन समस्याओं और पेचीदा बातों के आ जाने पर लोग अपने से बड़ों और अधिक अनुभववालों से सलाह पूछते हैं, इसका मतलब यही है कि स्वयं उनका ज्ञान इतना अधिक नहीं होता कि वे ठीक-ठीक निर्णय कर सकें; और वे समझते हैं कि अनुभवी लोगों को इतना ज्ञान है कि वे सब बातों पर विचार करेंगे और ठीक-ठीक सलाह देंगे। बड़े-बड़े काम सभाओं और पंचायतों के द्वारा निश्चित किए जाते हैं जिससे बहुत-से लोग अपनी-अपनी सम्मति प्रकट कर सकें, और अनुकूल तथा प्रतिकूल बातों पर पूरा पूरा विचार किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ठीक-ठीक निर्णय के लिये पहला आवश्यक अंग ज्ञान है, अर्थात् किसी काम से संबंध रखनेवाले अनुकूल और प्रतिकूल बातों का जानना। इसी को 'आगे-पीछे का सोच' कहते हैं, इसी को दूरदर्शिता कहते हैं। हमारे उदाहरण में यदि अपने वचन के पालन करने का महत्त्व न माना जाय और व्यवस्था के न पास होने का जो घोर परिणाम है उसका ज्ञान न हो तो तुरंत ही सभा में न जाने का निश्चय किया जा सकता है। परंतु यह निश्चय कच्चा होगा।

हरएक भाव पर ध्यान देना—बाप बेटे को सलाह देता है कि बेटा, देखो, खूब सोच-समझ कर काम करना; यदि तनिक भी चूक जाओगे तो पछताना पड़ेगा; अर्थात् अपने कार्य के अनुकूल ही बातों पर न ध्यान देना, किंतु प्रतिकूल बातों को भी सोच लेना। जब किसी से कोई काम करते नहीं बन पड़ता, और कोई अनुभवी आदमी उस काम का दोष दिखाता है तो करनेवाला अपने बचाव के लिये कहता है, 'मैंने इस बात पर विचार नहीं किया था'। परंतु यह कह देने से उसका बचाव नहीं होता; आप उसे धमकाकर पूछ सकते हैं कि यदि विचार करने के लिये नहीं तो फिर किस काम के

लिये तुम थे। पूरा सोच-विचार न करने से कितने ही आदमियों के मामले बिगड़ गए, कितनों की ज़िंदगी व्यर्थ हो गई, कितनों को आजन्म पछताना पड़ा। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जिस बात को हम तुच्छ समझकर विचार-विषय के बाहर कर देते हैं उसी से घोर परिणाम निकलता है। महाभारत पढ़नेवाले जानते हैं कि यदि युधिष्ठिर के भवन में दुर्योधन को यह न सुनना पड़ता कि अंधों के अंधे ही होते हैं तो पांडवों के प्रति उसकी क्रोधाग्नि इतनी शीघ्र न भड़कती।

सोचने का गुण प्रायः व्यक्तिगत होता है, परंतु अभ्यास से बढ़ाया जा सकता है। कुछ लोग जल्दबाज़ होते हैं, और झटपट दो-चार बातें सोचकर निर्णय कर लेते हैं; सब बातों को प्रयास-पूर्वक चेतना के केंद्र में लाना उनके लिये कठिन हो जाता है। ऐसे लोगों को साहसिक, अविवेकी और अविमृश्यकारी कहते हैं; उनके निर्णय को साहसिक निर्णय कह सकते हैं। बहुतेरे लोग इतना आगा-पीछा सोचते हैं कि दीर्घकाल तक कोई निर्णय ही नहीं कर सकते; वे उन्हीं बातों को लौट-लौटकर अपने मन में दोहराते रहते हैं; उनको शंका लगी रहती है कि कहीं कोई बात सोचने से रह न जाय कि जिससे कोई अनर्थ पैदा हो। ऐसे लोगों को दीर्घ-सूत्री कहते हैं, और उनके निर्णय को निरुद्ध निर्णय कह सकते हैं।

जो काम अभ्यास से स्वाभाविक हो जाते हैं, या जो स्वयं-सिद्ध काम होते हैं, उनमें सोचने की आवश्यकता नहीं होती, तथा सोचने का अवसर नहीं मिलता। खाना-पीना, कपड़े पहनना, साधारण अभिवादन, बैठना-उठना आदि काम अभ्यास से स्वाभाविक हो गए हैं; इनमें सोचने की ज़रूरत नहीं होती। अलबत्ता अगर इन्हीं कामों में कोई असाधारणता आ जाय तो सोचना पड़ता है, और सप्रयास अवधान लगाना पड़ता है। बाइसिकल का सवार अपने मन में बहुत-

सी बातें तमाम दुनिया की सोचता जाता है, और मार्ग के कंकड़-पत्थर भी बचाता जाता है, परंतु यदि सामने दो-तीन गाड़ियाँ आती-जाती दिखाई पड़ती हैं तो उसे ध्यान देकर सोचना पड़ता है कि उतर पड़ूँ, या दाहिने से ले जाऊँ, या बाएँ से ले जाऊँ, या चाल धीमी कर दूँ, या तेज़ कर दूँ। स्वयं-सिद्ध कामों में सोचने का अवसर नहीं मिलता; जैसे पैर फिसलने के साथ ही हाथ आगे को बढ़ जाता है कि गिरने का धक्का हाथ से रुक जाय; मेंढक पर पैर पड़ते ही आदमी कूद-कर अलग खड़ा हो जाता है, और उसका दिल धड़कने लगता है।

बीमारी से, या मस्तिष्क में कोई विकार पैदा हो जाने से या तो आदमी सोचता ही नहीं, या इतना सोचता है कि सोचता ही रहता है। एक तरह का उन्माद ऐसा होता है कि उसमें आदमी के जी में जो बात आती है वही करने लगता है; उसमें सोचने-विचारने का ज्ञान लेश-मात्र भी नहीं होता। अन्य प्रकार की एक और बीमारी होती है जिसमें आदमी के मन में कोई एक बात घुस जाती है, और वह बात निकाली नहीं निकलती; जैसे यह बात कि संपूर्ण संसार मेरा वैरी है। ऐसा आदमी सभी से शंका करता है, वह सोचता है कि माता मुझे विष पिला देगी, पिता छुरी भोंक देगा, मित्र धोखा दे देगा, पड़ोसी किसी बुराई में फँसा देगा, राह चलनेवाले जासूस हैं; जो मेरी ख़बर लेने के लिये इधर से उधर घूमते हैं, दो आदमी बातें कर रहे हैं, वे मेरे ही विषय में कोई बुरी सलाह कर रहे हैं, इत्यादि।

कहा जा चुका है कि ठीक-ठीक निर्णय के लिये अनुकूल और प्रतिकूल बातों का सोचना आवश्यक है। सोचने में यह होता है कि जो भाव कडुए होते हैं उन्हें हठ-पूर्वक और प्रयास के साथ चित्त के सामने रखना पड़ता है, अर्थात् सप्रयास अवधान की आवश्यकता होती है। अवधान के अध्याय में कहा

गया है कि सप्रयास अवधान एक क्षणिक बात है, उसके एक झटके से प्रस्तुत विषय चेतना के केंद्र में आ जाता है, तब अप्रयास अवधान उसे कुछ देर तक वहाँ रखता है, और विषय में शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटती रहती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि सप्रयास अवधान ही उत्तम निर्णय की जड़ है, और व्यवसायात्मिका बुद्धि की कुंजी है।

अध्यापक अपने छात्रों से विचार करने का अभ्यास करा सकता है। किसी विषय को लेकर उसके अनुकूल जितनी बातें हो सकती हैं, और उसके प्रतिकूल जितनी बातें हो सकती हैं उन पर एक-एक करके विचार कराया जा सकता है, और तब अंतिम निर्णय निकलवाया जा सकता है। कुछ दिनों में विचारने का अभ्यास बढ़ जाता है।

विचार-संघर्ष—अनेक भावों पर विचार करते-करते कभी एक पक्ष सबल प्रतीत होता है, कभी दूसरा पक्ष। किसी-किसी मामले का निर्णय मिनटों में होता है, किसी-किसी में घंटों, दिनों, महीनों और वर्षों का समय लगता है। जिस आदमी के कोई संतान नहीं होती वह अपनी जायदाद के उत्तराधिकारी चुनने में वर्षों लगाता है; वह कभी सोचता है कि दूर के बंधुओं को सारी मालियत दे दूँ, कभी सोचता है कि किसी बालक को गोद ले लूँ, कभी सोचता है कि काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय-सरीखी किसी संस्था को सर्वस्व समर्पण कर दूँ। इस प्रकार विरोधी भावों में परस्पर स्पर्धा होती रहती है। जब सब भावों पर विचार हो जाता है तो अंतिम निर्णय कर लिया जाता है।

यद्यपि सब भावों पर अच्छी तरह विचार कर लेना आवश्यक है, तथापि व्यावहारिक जीवन में इतना समय सब बातों के लिये नहीं मिलता, और जितना ही शीघ्र निर्णय हो सके उतना ही अच्छा होता है। अभ्यास से यह गुण प्राप्त होता है। फुटबाल आदि खेलों में तत्क्षण ही निर्णय करके उसी के अनुसार काम करना पड़ता है।

निर्णय के अनुसार काम करने में कठिनता—शराबी

आदमी ने अपने व्यसन की बुराइयों को देखकर निश्चय कर लिया है कि शराब न पिऊँगा। अब दस आदमियों की मित्रगोष्ठी इकट्ठी है, साफ़ बोतल में शराब भरी है, प्याले रक्खे हुए हैं, उत्सव मनाने का दिन है। यदि वह आदमी सोचता है कि एक बार निश्चय कर लेने पर फिर शराब का न छूना ही धर्म है, यदि वह न पीने के निर्णय को प्रयास-पूर्वक चेतना के सामने लाता है, और उससे विरुद्ध भावों को चित्त के सामने नहीं आने देता, तो वह चरित्र-सुधार के मार्ग पर आरूढ़ है। यदि वह सोचता है कि जहाँ इतने दिन पिया वहाँ एक दिन और सही, या इस बार थोड़ी-सी पीकर फिर दूसरी बार और कम और तीसरी बार उससे भी कम पिऊँगा, और इसी प्रकार छोड़ दूँगा, या इस देव-दुर्लभा सुरा का अनादर करना महापाप है, या एक बार पीकर इसे तिलांजलि दे दूँगा, या उत्सव के समय मित्रों के बीच बैठकर सुरा-पान में सम्मिलित होना सामाजिक नियम है, या ऐसे ही और विचार उसके मन में आते हैं तो समझो कि वह अपने चरित्र को और भी दूषित और निर्बल कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्णय की हुई बात के करने में कभी-कभी बड़ा संकोच होता है। ऐसी दशा में उद्धार करनेवाला वही सप्रयास अवधान है। चित्त को अन्य विषयों से खींचकर हठ-पूर्वक उसी बात में लगाओ जिसके लिये निश्चय कर चुके हो, और उसी के अनुसार कार्य करो।

सप्रयास अवधान का महत्त्व अब स्पष्ट हो जाना चाहिए। सप्रयास अवधान एक क्षणिक बात है, और यदि किसी के जीवन-काल के वे क्षण जोड़े जायँ जिनमें उसने प्रयास-पूर्वक ध्यान दिया है तो जोड़ बहुत कम होगा; तथापि इस अवधान का महत्त्व समय से नहीं किंतु उसकी प्रबलता से नापना चाहिए।

किसी-किसी की अवधान-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि संपूर्ण विषयों से हटकर मन एक ही विषय पर तुल जाता है; किसी-किसी में यह प्रबलता नहीं होती है।

मनःशास्त्र का जैसा विवेचन इस पुस्तक में दिया गया है, और जैसा कि आधुनिक समय में माना जाता है उससे नास्तिकता झलकती है; परंतु इस शास्त्र का सबसे महान् तत्त्व सप्रयास अवधान है, और सप्रयास अवधान देने के लिये आत्मा स्वतंत्र है। हमें ऐसा आभास होता है कि किसी विषय पर हम जितना चाहें सप्रयास अवधान दे सकते हैं, अर्थात् प्रयास-पूर्वक ध्यान देने का अधिकार हमारे शरीर में किसी को है; जिसको यह अधिकार है वही स्वच्छंद आत्मा है। इस प्रकार मनःशास्त्र का आधुनिक विवेचन मानते हुए भी, इस शास्त्र के माननेवाले नास्तिक नहीं कहे जा सकते।

चरित्र-गठन—शिक्षा का अंतिम उद्देश्य चरित्र-गठन है। यदि दो-चार, दस-बीस वर्ष के परिश्रम से चरित्र शुद्ध न हुआ तो उस परिश्रम का पूरा फल न निकला। अब हमें विचार करना चाहिए कि चरित्र क्या वस्तु है, और उसका संगठन किस प्रकार होता है।

बहुत बचपन में जब इंद्रियाँ बाहरी वस्तुओं का ज्ञान ले-लेकर मस्तिष्क को या मन को देती जाती हैं तब बच्चे की शक्तियों के निरोध करनेवाले भी बहुत-से हो जाते हैं; दीवार है जो हाथ आगे नहीं बढ़ने देती, ठंढा जल है जो रोमांच पैदा करता है, छुरी है जो काट देती है, गर्म भोजन है जो जला देता है; और भी, मा मिट्टी नहीं खाने देती, बाप ज़मीन पर लोटने नहीं देता, भाई घूमने नहीं देता, इत्यादि। पहली अवस्था में बच्चे को सभी निरोध एक ही तरह के लगते होंगे, परंतु कुछ समय के बाद उसे ज्ञात हो जाता होगा कि दीवार आदि के निरोध एक तरह के हैं और माता आदि के निरोध दूसरी तरह के। आदत पड़ जाने

से उसे ऐसा मालूम हो जाता होगा कि माता-पिता आदि जो कुछ कहें उसका करना ही धर्म है। कुछ दिनों के बाद प्रेम-भाव और सहानुभूति के बढ़ने से उन बातों का करना केवल आज्ञा-पालन ही नहीं रहता, किंतु उनमें रुचि भी पैदा हो जाती है।

ज्यों-ज्यों ज्ञान का मंडल बढ़ता जाता है, और अधिक लोगों से संपर्क होता जाता है, त्यों-त्यों बच्चे को कर्तव्य का ज्ञान बढ़ता जाता है। कुछ बातों से उसे सुख और संतोष होता है, कुछ से दुःख और असंतोष, और वह अनुमान करता है कि जैसे कामों से मुझे सुख-दुःख होते हैं वैसे ही कामों से औरों को भी उसी प्रकार सुख-दुःख होते होंगे। इसी का नाम सहानुभूति और सहवेदना है। धीरे-धीरे वह उद्योग करने लगता है कि मैं ऐसे काम करूँ जिनसे और लोगों को भी सुख मिले। यही सामाजिक कर्तव्य का मूल है।

इस प्रकार जिन कामों में पहले निरोध का ज्ञान होता है, उनमें धीरे-धीरे सहवेदना मिलती जाती है, और अंत में निरोध का भाव मिट जाता है, और सामाजिक काम करने के लिये आंतरिक इच्छा होने लगती है, इस अंतिम अवस्था में यदि निरोध मालूम भी होता है तो सहवेदना के कारण दबा दिया जाता है। इस काम में व्यवसायात्मिका बुद्धि से सहायता मिलती है, अर्थात् यदि व्यवसायात्मिका बुद्धि का सुधार और विकास अच्छी तरह हुआ है तो वह बुद्धि निरोध-भाव को मन में नहीं ठहरने देगी; यदि नहीं हुआ है तो निरोध-भाव मन में ठहरेगा, और मनुष्य को अपना कर्तव्य कर्म नहीं करने देगा।

अब हमें सोचना चाहिए कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान कैसे होता है। जब कोई समस्या ऐसी आ पड़ती है जिसमें मनुष्य को सोचना पड़ता है कि इस प्रकार काम करूँ या उस प्रकार काम करूँ तो उस दशा में वह इस प्रकार तुलना करता है—यदि दो

अन्य आदमियों के सामने यही समस्या आती, और उनमें से एक आदमी एक तरह का काम करता, और दूसरा आदमी दूसरी तरह का काम करता तो मैं किस आदमी के काम को अधिक पसंद करता ? चूँकि मैं उस आदमी के काम को अधिक पसंद करता, इसलिये मुझे भी वैसा ही काम करना चाहिए, जिससे और लोग मेरे काम को पसंद करें।

जिस आदमी के काम को मैं पसंद करता हूँ वह मेरे लिये आदर्श हुआ। इसीलिये सच्चरित्रता में आदर्श की ज़रूरत होती है, और जितने ही अधिक आदर्श-रूप कामों का ज्ञान मनुष्य को हो उतना ही अच्छा होता है। इसीलिये आदर्श-योग्य म॰ के जीवन-चरित पढ़ने चाहिएँ, और हर काम के करने में कोई उच्च आदर्श अपने सामने रखना चाहिए।

इस विषय में एक बात और भी जानने के योग्य है। हरएक आदर्श के कारण मन में ज्ञान, क्षोभ और इच्छा की लहरें उठती हैं ; पुरानी घटनाओं के जानने से ज्ञान, उनके स्मरण से मन में प्रसन्नता होने के कारण क्षोभ, और उसी तरह काम करने की इच्छा होती है। इनमें से यद्यपि प्रायः क्षोभ का अंश विशेष बलवान् होता है, तथापि दृढ़-चरित्र मनुष्य में इच्छा का अंश अधिक बलवान् होना चाहिए ; अर्थात् जिन कामों को हम उत्तम समझते हैं उनको दृढ़ता-पूर्वक करना चाहिए, और छोटी-मोटी विघ्न-बाधाओं से नहीं डरना चाहिए। आदर्श-योग्य कामों के करने में विघ्न होते हैं, कठिनाइयाँ होती हैं, परंतु मनस्वी मनुष्य उन विघ्नों और कठिनाइयों की पर्वा नहीं करता, और दुःख उठाकर भी अपना लक्ष्य पूर्ण करता है, इसी गुण का नाम सच्चरित्रता है ; इसी को चरित्र की दृढ़ता कहते हैं।

अध्याय १४

शारीरिक और मानसिक विकास

बच्चे को इस संसार का ज्ञान इंद्रियों के द्वारा होता है। जब बच्चा पैदा होता है तो उसकी इंद्रियाँ खुली होती हैं, और ज्ञान धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। चूँकि उस समय उसके मन में कुछ भी ज्ञान नहीं होता या बहुत ही कम होता है, इसलिये बाहरी वस्तुओं के देखने-सुनने का प्रभाव उसके मन में वैसा नहीं होता जैसा सयानेपन में होता है। उस समय जिस प्रकार का प्रभाव बच्चे के मन में होता है वह हम लोगों के अनुभव से बाहर है; वह प्रभाव हम लोगों पर भी एक बार अवश्य ही हुआ है, परंतु उसका कुछ भी स्मरण हम लोगों को नहीं है। अब उस प्रकार का अनुभव होना असंभव है। ऐसे अनुभव का केवल अनुमान कर सकते हैं। उसे शब्दों द्वारा प्रकट करना भी सहज काम नहीं।

यदि सयाने आदमी को चम्मच दिखाया जाय तो उसके देखते ही कितने प्रकार का ज्ञान मन में उत्पन्न होगा—चम्मच कितना बड़ा है? किस रंग का है? किस चीज़ से बना है? उससे क्या काम किया जाता है? इत्यादि अनेकों बातें मन में आवेंगी; और यह ज्ञान इतना प्रबल होगा अर्थात् वर्तमान अंतर्बोध का इतना प्रभाव होगा कि बिना इस ज्ञान के चम्मच का अस्तित्व मन में आ ही न सकेगा। परंतु वही चम्मच नव-जात बच्चे को दिखाइए तो चूँकि उसका अंतर्बोध कुछ भी नहीं है, उसके मन में आकार, रंग, प्रयोग आदि का कुछ भी ज्ञान न होगा; केवल चम्मच के

अस्तित्व का धुँधला आभास उसके मन में होगा । ऐसे ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं ।

यद्यपि सयाने मनुष्यों को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान शुद्ध रूप से नहीं हो सकता, तथापि उसका कुछ अंदाज़ा उस समय हो सकता है जब आदमी सोने से जाग चुकता है, परंतु संपूर्ण रीति से होश में नहीं आता । उस समय वह जो चीज़ें देखता है या जो कुछ सुनता है उनके अस्तित्व का ज्ञान तो उसे होता है, परंतु उनका और कोई अर्थ नहीं होता । उन चीज़ों का उसे ज्ञान-मात्र होता है, परंतु उनके बारे में उसे कोई तफ़सीलवार ज्ञान नहीं होता ; और यह दशा भी हमेशा नहीं होती. क्योंकि कभी-कभी उसी अर्धसुप्त दशा में भावना-शक्ति अपना काम करने लगती है, और मनुष्य निर्विकल्पक ज्ञान रखने के बदले स्वप्न देखने लगता है ।

एक अनुभव और कीजिए । कमरे की खिड़की खोलकर शिर बाहर निकालिए, और आकाश की ओर देखिए । कई रंग हैं, नीला आकाश है, उज्ज्वल या काले बादल हैं, क्षितिज के पास लाली छाई है, चिड़ियाँ उड़ रही हैं । इन बातों के बारे में आपको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, हरएक का कोई-न-कोई रूप आपको मालूम होता है, इन्हीं वस्तुओं में आप विवेक कर सकते हैं कि यह नीला आकाश है, नीचे लाली है, दाहिनी ओर श्वेत रंग का बादल हाथी के आकार का चला जा रहा है, आदि । अब शिर उसी जगह रखिए, और आँखें बंद करके ऊपर से एक पट्टी बाँध लीजिए । अब क्या मालूम होता है ? कुछ लाल-लाल-सा है जिसका न कोई नियत रूप है, और न जिसके बारे में कुछ ज्ञान है । अब किसी से कहिए कि आपके सामने अपना हाथ दाहिने से बाएँ और बाएँ से दाहिने बार-बार धीरे-धीरे ले जाय । आपको दूसरे आदमी के इस हाथ का कैसा ज्ञान है ? आप इसे

देखते नहीं, परंतु उसका स्वल्प आभास आपको मालूम होता है ; ज्यों-ज्यों हाथ एक ओर से दूसरी ओर को जाता है त्यों-त्यों आपको उसकी गति का कुछ आभास होता है। यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान का नमूना है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान ही अन्य सब ज्ञानों का बीज है ; इसी की उन्नति होते-होते ज्ञान बढ़ता जाता है, अर्थात् पुराने निर्विकल्प अनुभवों का स्मरण मन में हो जाता है, और ज्यों-ज्यों स्मरण-शक्ति बढ़ती है त्यों-त्यों ज्ञान की निर्विकल्पता कम होती जाती है। शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान एक ही आध महीने होता है। फिर बच्चे को चीज़ों के बारे में भी कुछ ज्ञान होने लगता है, और धीरे-धीरे यही ज्ञान अधिक और पक्का होता जाता है। ऐसा ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है। चम्मच देखने से सयाने लोगों को उसके आकार, रंग, प्रयोग आदि का जो ज्ञान होता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान है।

मान लीजिए कि किसी बच्चे के घर में एक वर्गाकार मेज़ है जिस पर काग़ज़ रखकर उसका बाप लिखता है, वह लकड़ी की बनी हुई है, और एक गज़ लंबी, एक गज़ चौड़ी है। अब मेज़ शब्द के कहने से उस बच्चे के मन में उन्हीं धर्मों (गुणों) का ज्ञान होगा जो उसके घरवाली मेज़ में हैं। किसी दिन वह पड़ोसी के यहाँ एक और मेज़ देखता है जो वर्गाकार नहीं है, किंतु डेढ़ गज़ लंबी और पौन गज़ चौड़ी है, और उस पर दवाओं की शीशियाँ रक्खी जाती हैं। अब बच्चे के मन से संकीर्णता दूर हुई ; उसे मालूम हुआ कि मेज़ के लिये वर्गाकार होना ज़रूरी नहीं है, और उस पर लिखने के अतिरिक्त दवाएँ रखने का काम भी हो सकता है। इसी प्रकार समय-समय पर वह गोल मेज़, अंडाकार मेज़, छोटी मेज़, मँझोली मेज़, बड़ी मेज़, भोजन करने

की मेज़, कपड़ा सीने की मेज़, जड़ी हुई मेज़, टूटनेवाली मेज़, चार पायों की मेज़, केंद्रस्थ एक गोल पाए की मेज़, काठ की बनी मेज़, पत्थर की बनी मेज़ आदि देखता जाता है तो उसके मन की संकीर्णता दूर होती जाती है, और मेज़ के लिये पहले जिन चीज़ों को वह आवश्यक धर्म या गुण या लक्षण समझता था उन्हें अब नहीं समझता। तो अब मेज़ क्या वस्तु हुई? एक ऐसी सामान्य वस्तु जिसमें ऊपर बताए हुए या अन्य गुणों में से कोई आवश्यक गुण हों; उसके लिये केवल चौकोर होना, काष्ठ-निर्मित होना, या लिखने का काम दे सकनेवाली होना आवश्यक नहीं। इस ज्ञान का नाम है सामान्य प्रत्यय।

बच्चा ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों उसका सामान्य प्रत्यय अधिक होता जाता है; इसीलिये आवश्यकता होती है कि जितनी तरह की वस्तुओं से हो सके उसका परिचय कराया जाय। इस प्रकार का ज्ञान वस्तुओं के द्वारा होता है, इसलिये शिक्षा में वस्तुओं का होना आवश्यक है। परंतु जब यह ज्ञान एक बार हो जाता है तो फिर वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य की उमर ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कम और सामान्य प्रत्यय की अधिक ज़रूरत होती है, और वैसा ही अभ्यास होता है। हम जब बातें करते हैं तो अनेक वस्तुओं के नाम बातों में आते हैं, परंतु हरएक नाम के साथ मन में किसी विशेष भावना का उदय नहीं होता, किंतु सामान्य प्रत्यय ही से काम पूरा हो जाता है।

कहा जा चुका है कि बच्चों और सयाने आदमियों के ज्ञानों में भेद होता है। यह भेद इतना अधिक होता है कि बच्चों के काम सयाने आदमियों को अद्भुत और दुर्बोध से भरे हुए मालूम होते हैं, और इसी तरह सयानों के काम बच्चों को विचित्र लगते हैं।

बच्चों के काम न तो अद्‌भुत हैं, और न उनमें कोई दुर्बोध है; जिस समय वे किए गए हैं उस समय की शारीरिक और मानसिक अवस्था में वैसे ही कामों का संभव है, औरों का नहीं। इसीलिये अध्यापक को पाठ्य विषय का जितना ज्ञान होना चाहिए उससे अधिक बच्चों के मानसिक विकास-क्रम और शारीरिक विकास-क्रम का होना चाहिए।

बच्चों की शारीरिक वृद्धि समानता के साथ नहीं होती, किंतु विषम होती है; कभी-कभी रुक-सी जाती है, और कभी-कभी वेग के साथ चलती है। ६ और ११ साल की उमरों के लगभग लड़कों की शारीरिक वृद्धि रुक-सी जाती है; और इससे कुछ पहले लड़कियों की शारीरिक वृद्धि रुकती है। ऊँचाई और मोटाई में भी वृद्धि बराबर-बराबर एक ही साथ नहीं होती, कभी एक अधिक होती है, और कभी दूसरी।

शारीरिक वृद्धि और मानसिक वृद्धि का संबंध बहुत स्पष्ट रूप से नहीं मालूम होता; परंतु साधारण रीति से इतना कहा जा सकता है कि इन दोनों तरह की वृद्धियों में कुछ सहचारिता होती है; जैसे ११ वर्ष की उमर के लगभग लड़कों की मानसिक उन्नति कुछ रुक जाती है, और इसी समय शारीरिक उन्नति भी रुकती है; इसी प्रकार तरुणता आने के समय शरीर और मन दोनों में बड़े वेग से वृद्धि होती है।

बड़े दुःख की बात तो यह है कि छठे वर्ष के लगभग बच्चों की शारीरिक उन्नति रुक जाती है, और यही समय है जब प्रायः उनको विद्या का अभ्यास कराया जाने लगता है यदि इस समय अधिक ज़ोर इस विद्याभ्यास पर दिया जाता है तो बच्चे का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसलिये आवश्यक है कि घर और स्कूल का संबंध बहुत धीरे-धीरे क़ायम किया जाय; स्कूल में स्वास्थ्य पर

ध्यान दिया जाय; और शिक्षा-प्रणाली ठीक की जाय ताकि बच्चे को विद्याभ्यास भी खेल ही प्रतीत हो। पाठशाला के शासन का यह अर्थ कभी नहीं होना चाहिए कि बच्चों को हाथ-पैर हिलाने की भी स्वतंत्रता न हो।

मानसिक वृद्धि के बारे में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि बच्चे के पास वे सभी शक्तियाँ होती हैं जो सयानों के पास होती हैं; भेद केवल मात्रा में है, अर्थात् बच्चों में इन शक्तियों का प्रारंभिक रूप होता है, और सयानों में उन्नत रूप। जब बच्चा अपनी भाषा में 'क्यों' या 'चूँकि' का प्रयोग करता है तो मालूम होता है कि उसकी तर्क-शक्ति काम कर रही है। बच्चों का पुराना अनुभव कम होता है, इसलिये उनका सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान अधूरा रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि चीज़ों के बारीक भेद उनको स्पष्ट रूप से नहीं प्रतीत होते; रंगों के भेद, शब्द के सुरों के भेद आदि जो सयानों को ठीक-ठीक मालूम होते हैं, बच्चों को नहीं प्रतीत होते। एक ही जाति की दो चीज़ों में कम-से-कम कितना अंतर होना चाहिए कि बारह साल के बच्चे को उस अंतर का ज्ञान हो सके? फिर एक ही जाति की दो चीज़ों में कम-से-कम कितना अंतर होना चाहिए कि छः साल के बच्चे को उस अंतर का ज्ञान हो सके? अनुभव करके देखा गया है कि बारह साल के बच्चे के ज्ञान में आने के लिये जितना अंतर चाहिए उससे तीन-गुना अंतर छः साल के बच्चे के ज्ञान में आने के लिये होना चाहिए।

यद्यपि बचपन के खंड करके यह नहीं बतलाया जा सकता कि अमुक वर्ष में बच्चों का यह स्वभाव होता है, और इस तरह की वृद्धि होती है, तथापि मोटी रीति से मानसिक विकास का क्रम बतलाया जा सकता है। जन्म से लेकर तीसरे साल तक शरीर के

अंग पुष्ट होते हैं, इंद्रियों की शक्ति बढ़ती है, विविध काम करने के लिये मांस-पेशियाँ सधती हैं; अनुकरण-शक्ति प्रबल होती है।

तीसरे वर्ष से सातवें वर्ष तक स्वाभाविक जिज्ञासा बढ़ती है; बच्चा अनेकों तरह के प्रश्न करता है; अनुकरण-शक्ति की प्रबलता बढ़ जाती है; खेल में बड़ी रुचि होती है; खेल और काम में अंतर नहीं मालूम होता; नाटकीय शक्ति बहुत प्रबल होती है; भावना-शक्ति प्रबल होती है, अतः क़िस्से-कहानियों में बहुत जी लगता है; स्मरण-शक्ति तीव्र होती है; मन की लहर से काम कर डालने की आदत कम पड़ती है; बड़ों के लिये आदर करने की शक्ति प्रकट होती है।

सातवें वर्ष से ग्यारहवें वर्ष तक शरीर की बड़ी वृद्धि होती है; मस्तिष्क का लगभग ⅘ भाग पूरा होता है; खेल और काम में भेद मालूम होता है; जिन कामों में स्वाभाविक रुचि नहीं होती उनके लिये रुचि पैदा की जा सकती है; प्रयास-पूर्वक ध्यान देने की शक्ति आ जाती है; स्मरण के कायिक गुण (मस्तिष्क की स्तंभक शक्ति) में प्रबलता होती है; भावना-तरंगों की निरंकुशता कम हो जाती है; एक ही जाति के भिन्न-भिन्न पदार्थों में विवेक होने लगता है; वस्तु-संबंधी ज्ञान बढ़ जाता है; शब्द-समूह की वृद्धि होती है; धर्म-संबंधी विचारों में उन्नति होती है; आत्मसंयम होने लगता है; बड़ों की आज्ञा का पालन आँखें बंद करके नहीं किया जाता; अध्यापक आदि का अनुकरण बहुत किया जाता है; चीज़ों से अधिक मनुष्यों का आदर किया जाता है।

ग्यारहवें वर्ष से चौदहवें वर्ष तक लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का शारीरिक विकास अधिक होता है; व्यायाम के लिये शरीर सध जाता है; चिह्नों और संकेतों में रुचि पैदा होती है; जितना

ज्ञान व आनंद यथार्थ वस्तुओं और चित्रों से मिलता है उतना ही पुस्तक से मिलने लगता है ; शब्दों और विचारों का संबंध अच्छी तरह हो जाता है, और सामान्य प्रत्यय की शक्ति बढ़ती है ; धर्म-संबंधी बातों में निर्णय-शक्ति पैदा होती है ; आचरण-संबंधी सामान्य नियम पसंद आने लगते हैं ; माता-पिता की आज्ञाओं से सामाजिक और धार्मिक आज्ञाओं का पालन अधिक अच्छा मालूम होता है ।

चौदहवें वर्ष से सत्रहवें, अठारहवें वर्ष तक मानसिक और शारीरिक शक्तियों में प्रत्यक्ष परिवर्तन हो जाता है ; शारीरिक वृद्धि बड़े वेग से होती है, रोगों के रोकने की शक्ति बढ़ जाती है ; युवावस्था में प्रवेश होता है ; शब्देंद्रिय बढ़ जाती है, और बोली बदल जाती है ; उच्च मानसिक शक्तियों का विकास होने लगता है ; सामान्य प्रत्यय की शक्ति और भी बढ़ती है ; भविष्यत् काल के लिये चिंता होने लगती है ; मन में बड़ी-बड़ी आशाओं की तरंगें उठने लगती हैं ; मनोरथों की धूमधाम मचती है ; सामाजिक विषयों में रुचि अधिक हो जाती है ; राजनैतिक और धार्मिक जोश भी बढ़ता है ; अंतःक्षोभ और मनोविकार अनिवार्य हो जाते हैं ; बल-पूर्वक कोई काम करने का सबसे उत्तम समय यही है ।

इसके उपरांत पूर्ण युवावस्था आ जाती है, और बचपन या लड़कपन का नाम छूट जाता है । फिर ज्यों-ज्यों सांसारिक अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों बुद्धि में वृद्धि होती जाती है । शरीर-संबंधी जितनी आदतें हैं प्रायः बीस-बाईस वर्ष की उमर तक क़ायम हो जाती हैं, और जीविका-संबंधी आदतें प्रायः तीस वर्ष की उमर तक क़ायम हो जाती हैं ।

वैज्ञानिकों ने इस बात पर भी विचार किया है कि बच्चे पर

जन्म (संस्कार) का प्रभाव कितना होता है और परिस्थिति का कितना। यद्यपि कुछ कट्टर लोग यह मानते हैं कि उत्पत्ति के समय सब बच्चे बराबर होते हैं, और उनमें जो अंतर पड़ जाता है वह परिस्थिति का कारण है, तथापि हम लोगों के मन से यह बात कदापि नहीं निकाली जा सकती कि उत्पत्ति के समय भी सब बच्चे बराबर नहीं होते। बलवान् पुरुष और तंदुरुस्त स्त्री का बच्चा निर्बल पुरुष और रोगिणी स्त्री के बच्चे के समान कैसे हो सकता है ? आप परिस्थिति को कितना ही ठीक रक्खें, उत्पत्ति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। परंतु इससे परिस्थिति की महिमा कम नहीं होती। यदि जन्म और परिस्थिति दोनों अच्छे हों तो अत्यंत सुंदर है। यह विषय बहुत बड़ा है, इसलिये इसे यहीं छोड़ देना उचित जान पड़ता है।

अध्याय १५

बाल-निरीक्षण

अध्यापन में सफलता प्राप्त करने के लिये इन तीनों बातों की बड़ी आवश्यकता है—(१) जो विषय पढ़ाया जाय उसका पूरा ज्ञान और पूरी तैयारी। जितना पढ़ाना है उससे कहीं अधिक अध्यापक को जानना चाहिए ताकि उस विषय पर वह हर तरह के प्रश्नों के उत्तर दे सके। (२) शिक्षा-प्रणाली। यह सिद्ध हो चुका है कि बुरी रीति से पढ़ाना लाभदायक नहीं होता, किंतु उससे हानि पहुँचती है। पढ़ाने की शास्त्र-सम्मत और बुद्धि-सम्मत रीति ग्रहण करने से विद्या में रुचि पैदा होती है, और सच्चा बोध होता है। (३) विद्यार्थियों की मानसिक वृत्तियों और शारीरिक चेष्टाओं आदि का ज्ञान, अर्थात् बाल-संबंधी मनोविज्ञान। जब तक खेत की मिट्टी का ज्ञान नहीं होता तब तक फ़सल अच्छी नहीं होती, 'ऊसर बीज बए फल यथा'; जब तक लकड़ी का ज्ञान न हो तब तक बढ़ई अपनी कारीगरी ठीक तरह से नहीं कर सकता; जब तक बच्चों की मानसिक शक्तियों का ज्ञान न हो तब तक अध्यापक का ज्ञान अधूरा रहता है। शिक्षा-प्रणाली भी इसी ज्ञान पर अवलंबित है।

अब यह जानने की आवश्यकता हुई कि बच्चों की मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं का ज्ञान सयाने आदमियों को किस प्रकार होता है। इसके लिये तीन साधन बतलाए जाते हैं—(१) अपने बचपन का स्मरण, (२) पुस्तकों में लिखा हुआ वर्णन पढ़ना, (३) बच्चों का निरीक्षण करके उनकी मानसिक वृत्तियों का अनुमान करना।

इनमें से सबसे उत्तम साधन पहला है, अर्थात् अपने बचपन का स्मरण । हरएक पुरुष या स्त्री को अपने बचपन का कुछ-न-कुछ स्मरण रहता है, और इसी स्मरण के आधार पर सयानेपन में भी वह बच्चों की मनोवृत्तियों का पता लगा सकता है। हरएक आदमी को अवश्य ही स्मरण होगा कि जब मैं छोटा था तो अमुक समय में अमुक घटना अमुक प्रकार से हुई थी, और उस समय उस घटना के बारे में मेरे विचार अमुक प्रकार के थे। ऐसे ही स्मरणों की नींव पर बाल-मनोविज्ञान की रचना हो सकती है।

यद्यपि बालत्व के स्मरणों का महत्व इतना अधिक है, तथापि उस समय के बहुत-से अनुभवों का स्मरण नहीं रहता, और सयानेपन में यदि हम चाहें कि बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन करें तो आवश्यक होता है कि बच्चों का निरीक्षण करें, और उनकी बातों को सुनकर तथा उनकी चेष्टाओं को देखकर उनकी मानसिक वृत्तियों का पता लगावें। ऐसा पता केवल अनुमान से लगाया जा सकता है।

अब हमें बाल-निरीक्षण की आवश्यकता मालूम हुई। परंतु यह काम इतना सरल नहीं है जितना कि बाहरी दृष्टि से प्रतीत होता है। माता-पिता के गुणों के कारण हो या परिस्थिति के कारण हो, बच्चों में भेद अवश्य ही पाया जाता है; कोई बच्चे प्रथम ही से अधिक बुद्धिवाले, कोई कम बुद्धिवाले, कोई शारीरिक संपत्ति में कम, कोई अधिक, प्रतीत होते हैं। अतः एक या दो बच्चों का निरीक्षण करके हम साधारण नियम नहीं बना सकते; और साधारण नियम बनाने के लिये बड़ी संख्या में बच्चों का निरीक्षण करना पड़ता है। फिर भी जो नियम बनते हैं वे बहुत साधारण होते हैं और हरएक बच्चे पर पूरे-के-पूरे लागू नहीं हो सकते।

दूसरी कठिनता शुद्ध अनुमान करने में होती है; बच्चों की शारीरिक चेष्टाओं को देखकर तथा उनकी बातों को सुनकर उनकी

मानसिक वृत्ति अनुमान करने में बहुत सचेत रहने की आवश्यकता है; ऐसा न हो कि जो काम बच्चे ने क्रोध के वश होकर किया है उसका कारण ईर्षा बता दिया जाय, या जो काम उसने निरीक्षक के सामने किया है उसे वह स्वतंत्रता की दशा में न करता।

एक कठिनता यह भी है कि जब बच्चे को मालूम हो जाता है कि मेरा निरीक्षण हो रहा है तो वह अपनी स्वाभाविक अवस्था में नहीं रहता; निरीक्षक के सामने उसकी विचार-धारा उस तरह नहीं बहती जैसे कि स्वच्छंदता की अवस्था में; वह अपनी बहुत-सी शारीरिक चेष्टाओं को रोक लेता है. इसलिये यदि आप चाहें कि किसी बच्चे के पास जाकर उसका निरीक्षण करने लगें तो आपको शुद्ध फल नहीं मिलेगा। बच्चों का निरीक्षण करने के लिये निरीक्षक को भी बच्चा ही बन जाना चाहिए; अर्थात् उन्हीं के बीच में रहना, उनसे पूरा परिचय और प्रेम प्राप्त करना, और उनके सामने नोट लिखना आदि कोई ऐसा काम न करना जिससे उनकी स्वाभाविकता में बाधा पड़े।

अब देखना चाहिए कि अध्यापकों के लिये कितना बाल-निरीक्षण आवश्यक है। इसमें तो संदेह नहीं कि अध्यापकों को बच्चों का जितना ही अधिक हाल मालूम हो उतना ही अच्छा, परंतु यदि उसे बहुत अधिक विवरण न भी मालूम हो तो भी वह अच्छा अध्यापक हो सकता है। इसका कारण स्पष्ट है, अर्थात् न तो उसे इतना अवकाश हो सकता है कि वह अपनी कक्षा के हर-एक बच्चे का पूरा निरीक्षण यत्न-पूर्वक करके उसी निरीक्षण के अनुसार अपनी अध्यापन-प्रणाली में परिवर्तन करे, और न वह दूसरों की बनाई बाल-निरीक्षण की बड़ी-बड़ी सूचियों को देखकर उनसे कोई व्यावहारिक उपयोगी नियम बना सकता है, क्योंकि बच्चों की मानसिक वृत्तियों में भेद होता है। अध्यापक के लिये मानसिक

वृत्तियों के कुछ साधारण नियमों का जानना ही आवश्यक है, और यह ज्ञान ऊपर बताए हुए तीनों साधनों से किसी-न-किसी अंश में उसे मिल सकता है, अर्थात् अपने बचपन के स्मरण से, पुस्तकों से, और बच्चों के साधारण निरीक्षण से। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि अध्यापक के लिये नियम-पूर्वक बाल-निरीक्षण करना निषिद्ध है, कहने का तात्पर्य केवल यह है कि उसका अध्यापन-कार्य साधारण नियमों के जानने ही से चल सकता है, परंतु उसमें इतनी योग्यता और बुद्धि होनी चाहिए कि वह इन नियमों से काम ले सके, और विशेष दशाओं में इन्हीं नियमों के अनुसार अपनी अध्यापन-पद्धति में परिवर्तन कर सके। केवल यही नहीं, किंतु उसे चाहिए कि बच्चों की चेष्टाओं को यथा-समय ध्यान-पूर्वक देखता रहे।

ऐसे साधारण निरीक्षण से भी अध्यापक को बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है; अर्थात् मनोविज्ञान के जो साधारण नियम उसे मालूम हैं उनकी परिपुष्टि होती है। इस लेखक ने जो थोड़ा-सा निरीक्षण बच्चों का किया है उससे उसे अत्यंत आनंद मिलता है, और मनोविज्ञान के जो थोड़े-से नियम उसने पढ़े हैं उनकी परिपुष्टि होती है। अधिक विस्तार न देकर यहाँ केवल दो-चार उदाहरण दिग्दर्शन के लिये दिए जाते हैं—

कोई डेढ़ साल की एक लड़की क़ैदियों की गाड़ी देखने में अत्यंत रुचि रखती थी; कोई साढ़े नौ बजे और साढ़े चार बजे दिन को मकान के सामने ही जब सड़क पर गाड़ी निकलती थी तो दूर ही से उसकी घड़घड़ाहट सुनकर वह अत्यंत आतुर हो जाती थी, और 'बद्दी-बद्दी' (बग्घी) करके देखने की चेष्टा करती थी। यदि उसे उठाकर कोई दिखला देता था तो वह संतुष्ट हो जाती थी, नहीं तो कुछ देर तक रोती रहती थी। गाड़ी पर बैठे

हुए सिपाहियों की रंगीन वर्दी, गाड़ी का बहुत बड़ा चलता हुआ आकार, उसकी घड़घड़ाहट आदि लड़की के लिये अत्यंत कुतूहल-वर्धक थे, हम लोगों के लिये कोई कुतूहल उसमें नहीं था।

एक तीन वर्ष की लड़की और उसका ६ वर्ष का बड़ा भाई, ये दोनों जब एकसाथ होते हैं तो प्रायः उनमें स्पर्धा होती है। एक दिन उनमें यह निश्चय हुआ कि यह दरवाज़ा हम लें और वह दरवाज़ा तुम लो ; अपने-अपने दरवाज़े पर खड़े होकर दोनों अपनी-अपनी प्रशंसा विचित्र रूप से करने लगे, लड़का कहता है, "हमारी तरफ़ तो बाग़ है, क्या तुम्हारी तरफ़ बाग़ है ?" ; लड़की कहती है, "हमारी तरफ़ तो डिपटी साहेब का घर है, क्या तुम्हारी तरफ़ डिपटी साहेब का घर है ?"। इसी प्रकार अन्य-अन्य वस्तुओं का नाम लेकर विवाद जारी रहा। इससे स्पर्धा-शक्ति के विकास का पता चलता है।

एक बार मैंने एक बच्चे को दो खिलौने दिए, एक तो खजूर के पत्ते की बनी पपिहरी थी जो मुँह से फूँकने से बजती थी, और दूसरा खिलौना गावदुम काग़ज़ का बना था जिसे चाहे जिस तरह से डाल दो या लिटा दो वह सीधा खड़ा हो जाता था। दूसरे दिन बच्चे ने दोनों खिलौने नोचकर मुझे दिखाए, और मुझसे कहा, 'इस काग़ज़ के नोचने से भीतर यह मिट्टी का टुकड़ा निकला है, और इसी के कारण खिलौना सीधा खड़ा हो जाता था ; परंतु पपिहरी के नोचने से उसके भीतर कुछ भी नहीं निकला, तो उससे बजने की आवाज़ कैसे निकलती थी ?' इन खिलौनों का नोचना उस विधायकता-शक्ति का उदाहरण है जो संपूर्ण वस्तुओं का परिचय बच्चों को देती है। खिलौने के खड़े होने का और आवाज़ निकलने का कारण ढूँढ़ना स्वाभाविक बाल-कुतूहल का नमूना है ; और आवाज़ निकलने का कारण न पाकर

उसे जानने की इच्छा से मुझसे प्रश्न करना जिज्ञासा है। यदि बच्चा कुछ और सयाना होता तो मैं प्रायः उसे अच्छी तरह समझा सकता कि किस प्रकार थोड़े-से छिद्र में होकर जब वायु वेग के साथ निकलती है तो आवाज़ पैदा होती है। इस पाँच साल के बच्चे को इतना ही बताना काफ़ी हो गया कि आवाज़ तुम्हारी फूँक है जो पपिहरी के छेद में से होकर निकलती है।

अब अंतर्बोध और विचार-संबंध का उदाहरण सुनिए और देखिए कि बच्चे अज्ञात बातों का संबंध ज्ञात बातों से किस प्रकार करते हैं, किस प्रकार भावना-शक्ति से काम लेते हैं, और किस प्रकार केवल अनुभव की हुई बातों पर उनका भरोसा रहता है। प्रश्नों के उत्तर देखने से यह भी पता चलेगा कि कोई क़िस्सा-कहानी सुनकर बच्चे किस प्रकार अपनी भावना, शुद्ध या अशुद्ध, क़ायम कर लेते हैं, और शुद्ध भावना की जाँच करने के लिये प्रश्नों का करना और बच्चों से उत्तरों का लेना कितना आवश्यक है। प्रश्न-प्रधान शिक्षा-प्रणाली का एक नमूना भी इस उदाहरण से मिल जायगा। उदाहरण की कहानी साढ़े तीन वर्ष की एक लड़की से कही गई थी, और उसी समय नोट लिखने का भी प्रबंध कर लिया गया था। लड़की की यथार्थ बोली घरेलू थी, परंतु यहाँ पर उसके शब्द प्रचलित भाषा में लिखे गए हैं। भाव कहीं नहीं बदला गया।

अध्यापक—सुनो बेटी एक बात। आज तुम्हारे मामा की चिट्ठी आई है, उसमें लिखा है कि तुम्हारे मामा अयोध्याजी को गए हैं।

बेटी—काहे के लिये गए हैं?

अ०—दर्शन करने के लिये। जैसे यहाँ मंदिरों में तुम दर्शन करने जाती हो, वैसे ही अयोध्या में भी बहुत-से मंदिर हैं, वहीं मंदिरों में दर्शन करने के लिये तुम्हारे मामाजी गए हुए हैं।

बे०—तो क्या वहाँ भी दुर्गाजी का मंदिर है? (भावना)

अ०—हाँ, दुर्गाजी का भी मंदिर है ; लेकिन वहाँ रामजी के बहुत-से मंदिर हैं।

बे०—तो हम भी चलेंगी। (इच्छा)

अ०—अच्छा, चलना। यह जानती हो कि रामजी कौन थे ?

बे०—हाँ, रामजी वही जय भगवान् की। (शब्द-संबंध)

अ०—हाँ, मगर यह तो बताओ कि रामजी कौन थे, किसके बेटे थे, कहाँ रहते थे, और क्या करते थे ?

बे०—वहीं रहते थे जहाँ मामा गए हैं। देखा नहीं। (स्मरण)

अ०—अच्छा, तो हम तुम्हें बताते हैं, सुनो।

बे०—बताओ। (जिज्ञासा)

अ०—वहीं अयोध्या में रहते थे, इनके और कई छोटे भाई थे। वे राजा के लड़के थे।

बे०—हाँ, जैसे दादाजी कहा करते हैं कि हम राजा हैं। (सादृश्य-संबंध)

अ०—तुम्हारे दादा को प्यार के मारे राजा कहते हैं ; तुम्हारे दादा राजा नहीं हैं।

बे०—फिर राजा और कौन है ? आप हैं राजा ? (जिज्ञासा)

अ०—नहीं, हम भी राजा नहीं हैं। राजा के पास बहुत-से घोड़े, हाथी, ऊँट, गाड़ी, घर, कपड़े, रुपया, नौकर होते हैं। हमारे पास तो नहीं हैं। किसी दिन हम तुम्हें राजा के पास ले चलेंगे। अच्छा तो रामजी राजा के लड़के थे। एक दिन एक बाबाजी आए। कैसे थे बाबाजी ?

बे०—जैसे हमारे बाबाजी। (शब्द-सादृश्य से भावना)

अ०—नहीं, तुम्हारे बाबाजी तो साधु नहीं हैं। वे बाबाजी साधु थे, जैसे महंतजी।

बे०—(हँसकर) तो क्या छिए थे ? (भावना के लिये जिज्ञासा)

अ०—लँगोटी लिए थे, बड़े-बड़े बाल थे, लंबी दाढ़ी थी, खूब भभूत लगाए थे। बाबाजी जंगल में पूजा-पाठ करते थे। जंगल जानती हो?

वे०—हाँ।

अ०—जंगल क्या होता है?

वे०—(हँसकर) नहीं जानती हूँ, आप बताइए—(जिज्ञासा)।

× × ×

अ०—अच्छा, जंगल में बाबाजी पूजा, होम करते थे। होम जानती हो?

वे०—होम हाँ जानती हूँ। हरोम् (समझ में नहीं आता कि इस अनर्थक शब्द से लड़की का क्या तात्पर्य था)।

अ०—तुम नहीं जानती हो। सुनो। बहुत-सी आग जलाकर उसमें जौ-तिल-घी-शक्कर मिलाकर थोड़ा-थोड़ा करके डाला जाता है, उसे होम कहते हैं।

वे०—हाँ, जो पूजा में होता है, जैसा मा ने उस दिन किया था। (स्मरण, ज्ञान)

अ०—तो जब बाबाजी होम करते थे तो कई एक दानवा आते थे जो बड़े-बड़े भारी आदमी होते थे, जैसे नीम के पेड़। वे मुँह बगारकर आ-आ-आ-आ करके दौड़ते थे, और बाबाजी की चीज़ें उठा ले जाते थे, कभी आचमनी ले जाते थे, कभी लोटा ले जाते थे, कभी आग में पानी डाल देते थे। इन लोगों के मारे बाबाजी बड़े व्याकुल थे। तो बाबाजी ने आकर रामजी के बाप से कहा कि महाराज अपने दो लड़के हमारे साथ भेज दीजिए तो वे हमारी चीज़ों को रखावें।

वे०—तो आग में पानी-वानी डालने का हाल बताया होगा? (सबसे प्रबल भाव का स्मरण, भावना)

अ०—हाँ, सब हाल बताया । राजा ने अपने दो बेटों राम और लक्ष्मण को बाबाजी के साथ भेज दिया।

बे०—बाबाजी का नाम क्या था ? (बेटों के नाम सुनकर बाबाजी के नाम की जिज्ञासा, सादृश्य-संबंध)

अ०—बाबाजी का नाम था विश्वामित्र । कहो ।

बे०—विश्वामित्र ।

अ०—बाबाजी इन दोनों बेटों को अपने साथ ले गए, और होम करने लगे । दोनों बेटे रखाते थे । वही दानवा दौड़े, और रामजी व लक्ष्मणजी ने सबको मार डाला।

बे०—अरे ! काहे से मारा ? (क्षोभ, जिज्ञासा)

अ०—धनुहा पर चढ़ाकर बान मारा । धनुहा जानती हो ?

बे०—लाठी । (मारने का साधन लाठी ही मालूम है, अंतर्बोध)

अ०—लाठी नहीं । गुलेल देखी है ?

बे०—हाँ, जो हमारे घर पर बंदरों के मारने के लिये रक्खी है। (भावना)

अ०—हाँ वही । मगर उसमें बान लगते थे । बान इतनी इतनी लंबी (हाथ फैलाकर) लकड़ियों की तरह होते हैं जो गुलेल पर चढ़ाकर मारे जाते हैं ।

बे०—तो फिर हमको भी बना दो । (इच्छा)

अ०—अच्छा तुम्हारे लिये एक गुलेल बना देंगे ।

बे०—और दादा के लिये ? (संबंध, साथ रहने के कारण)

अ०—दादा के लिये भी एक बना देंगे ।

बे०—और लाठी भी बना देना । (बान की भावना अभी नहीं हुई)

अ०—लाठी नहीं, बान । लाठी तो मोटी और बड़ी होती है; बान पतले और छोटे होते हैं । सो तुम्हारे लिये बान भी बना

देंगे। (इस अवसर पर यदि बान का नमूना दिखाया जाता तो उसकी भावना स्पष्ट और शुद्ध हो जाती; अध्यापन में यथार्थ वस्तुओं की बड़ी आवश्यकता होती है)

बे०—हम उसी से बंदरों को भी मारेंगी। (भावना)

अ०—हाँ, उसी से मारना। अच्छा, दोनों भाइयों ने दानवों को मार डाला।

बे०—जैसे हम चरों को मार डालती हैं। उनको हाँडी से बंद कर देती हैं। (लड़की को महाकाय राक्षसों की भावना अभी नहीं हुई; उपमा से केवल मारने का तात्पर्य है)

अ०—हाँ, बस, वैसे ही। जब पूजा हो चुकी तो बाबाजी ने कहा, अब चलो चलें।

बे०—कहाँ चलने को कहा? (जिज्ञासा)

अ०—वहीं जंगल में आगे बढ़ने को।

बे०—हाँ। वहाँ काहे के लिये आते थे? (जिज्ञासा)

अ०—घूमने-घामने के लिये।

बे०—और अपनी सब चीज़ें भी साथ में ले लीं? (भावना)

अ०—हाँ, सब चीज़ें ले लीं।

बे०—चीज़ें कैसे लीं? गिर-गिर न पड़ती होंगी? (भावना)

अ०—उन्हें एक झोले में भर लिया।

बे०—(हँसकर) झोला कंधे पर रखकर चले होंगे? (भावना, हास्य)

अ०—हाँ, चाहे लाद लिया हो। नहीं तो उनके साथ और भी बहुत-से साधु लोग थे, उन्होंने लाद लिया हो।

बे०—जैसे दादा अपने खिलौने डलिया में भरकर ले जाता है। (सादृश्य-संबंध)

अ०—हाँ। चलते-चलते जंगल में एक मकान मिला। वहाँ पेड़

तो बहुत थे, आदमी कोई न था, न बंदर था, न चिड़िया थी, सो सब लोग उस मकान में घुस गए।

बे०—कौन? वही बंदर और चिड़ियाँ? (शुद्ध भावना नहीं हुई)

अ०—नहीं। हम कहते हैं कि वहाँ बंदर, चिड़िया कोई भी नहीं थे। वही बाबाजी, राम, लक्ष्मण और साधु लोग सब मकान में घुस गए। मकान ख़ाली था, और वहाँ एक पत्थर भी पड़ा था। बाबाजी ने रामजी से कहा कि इस पत्थर को पैर से खसकाओ तो। रामजी ने उसे पैर से खसकाया तो उसके नीचे से एक सुंदर स्त्री निकली।

बे०—जैसे मेरी मा। (सादृश्य-संबंध)

अ०—हाँ, ठीक है।

बे०—तो क्या वह स्त्री उस पत्थर के नीचे पड़ी थी? (तर्क, भावना)

अ०—हाँ।

बे०—तो बड़ा भारी पत्थर था। (अनुमान)

अ०—हाँ, बहुत बड़ा पत्थर था।

बे०—तो वह स्त्री क्या कहने लगी? (जिज्ञासा)

अ०—उसने कहा कि मैं अब निकल आई हूँ, और अपने साथी के पास जाती हूँ। वह चली गई।

बे०—काहे पर? बग्घी पर? (जिज्ञासा, भावना)

अ०—बग्घी वहाँ जंगल में कहाँ रक्खी थी? वैसे ही पैदल चली गई।

अध्याय १६

पढ़ने में शारीरिक और मानसिक थकावट

काम चाहे शारीरिक हो अथवा मानसिक, वह थकावट पैदा करता है। थकावट आ जाने पर शारीरिक शक्तियों में न्यूनता आ जाती है। मानसिक थकावट में मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन हो जाता है, और शारीरिक थकावट में विशेषतर मांस-पेशियों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। कोई भी काम करते समय शरीर के किसी-न-किसी भाग का कुछ अंश व्यय हो जाता है। जब शरीर का कोई भाग किसी काम में लगता है तब उसके अणुओं से ऑक्सीज़न (अमृत वायु) निकलती है, और शक्ति-रूप में बदलकर नष्ट हो जाती है, नष्ट क्या हो जाती है, उस काम के फल में परिवर्तित हो जाती है। अब उस भाग में ऑक्सीज़न के कम हो जाने से मंदता आ जाती है। यह मंदता पूरी कहाँ से हो ? हम जानते हैं कि शरीर के हर भाग में रक्त का संचार रहता है, शुद्ध रक्त में ऑक्सीज़न का अंश रहता है, इसलिये जिस भाग का ऑक्सीज़न ख़र्च हो गया है वह भाग शुद्ध रक्त में से आवश्यक ऑक्सीज़न खींच लेता है, और अपने सड़े हुए विष-समान भाग को रक्त में उगल देता है। तब रक्त काला और दूषित हो जाता है। हर अंग का दूषित रक्त नालियों के द्वारा एकत्र होकर फेफड़ों में जाता है, जहाँ उसे श्वास के द्वारा शुद्ध वायु मिलती है। इस शुद्ध वायु में से ऑक्सीज़न निकलकर उस दूषित रक्त में मिल जाता है, और उस दूषित रक्त का विष-भाग लौटते हुए श्वास के साथ बाहर निकल जाता है।

इससे हमें कई बातें मालूम हुई—प्रथम यह कि रक्त की शुद्धि के

लिये फेफड़ों का काम अत्यंत आवश्यक है, और इस आवश्यक काम के लिये शुद्ध वायु का मिलना बहुत ज़रूरी है। इसीलिये बंद कमरे में कई आदमियों का बहुत देर तक रहना हानिकारक है; क्योंकि उस कमरे में शुद्ध वायु के न जाने के कारण वहाँ की वायु बहुत शीघ्र गंदी हो जाती है। दूसरे यह कि झुककर बैठने से फेफड़े दबते हैं, और उनके काम में बाधा पड़ती है, इसलिये बच्चों को झुककर न बैठने देना चाहिए। तीसरे यह कि साधारण दशाओं में शरीर के जो भाग मंद होते जाते हैं उनकी पूर्ति शुद्ध रक्त के द्वारा होती जाती है, और दूषित रक्त की शुद्धि फेफड़ों के द्वारा। चौथे यह कि यद्यपि शरीर का एक ही भाग किसी विशेष कार्य में लगकर अपनी शक्ति कम कर दे, तथापि उससे जो विष-भाग निकलकर रक्त में मिल जाता है वह भाग रक्त-प्रवाह के साथ ही दूसरे अंगों में भी पहुँच सकता है। स्नायु-तंतुओं में इस विष का प्रभाव सबसे शीघ्र पहुँचता है।

जब काम बड़े वेग के साथ किया जाता है तब ऑक्सीज़न का व्यय इतना अधिक होता है, और उस शरीरांग-विशेष से इतना अधिक विष निकलता है कि रक्त-प्रवाह के द्वारा शीघ्र प्रतिक्रिया नहीं हो सकती, और रक्त में तथा शरीर की धातुओं में विष भर जाता है। इस दशा में शक्तिहीनता आ जाती है, इसी का नाम थकावट है।

जो कुछ अभी बतलाया गया है वह तो शरीर के भीतर की बात ठहरी। बाहरी लक्षणों से भी थकावट का पता मिल सकता है। अध्यापक को इन लक्षणों का जानना आवश्यक है, क्योंकि यदि वह थके हुए बच्चों पर काम का अधिक बोझ रखता जायगा तो उसका और बच्चों का परिश्रम ही नहीं व्यर्थ जायगा, किंतु बच्चों के शरीर में कोई स्थायी रोग भी उत्पन्न हो जायगा।

जब थकावट की मात्रा एक विशेष स्थान तक पहुँच जाती हैं तब काम में लापरवाही प्रतीत होने लगती है, तब उस काम में मन नहीं लगता, शरीर में मंदता आ जाती है, जी उकताने लगता है। ज्यों-ज्यों थकावट बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कार्य-संपादन-शक्ति में ह्रास होता जाता है। पहले अशुद्धियों और प्रमादों की बढ़ती होती है, फिर काम की मात्रा भी कम हो जाती है। बैठने-उठने का ढंग निराला-सा हो जाता है, सिर, हाथ, और रीढ़ सीधे नहीं रहते, तबीयत में चिरचिराहट आ जाती है। आँखें स्थिर नहीं रहतीं, चेहरा फीका पड़ जाता है, प्रसन्नता कम हो जाती है। दोनों आँखों से नीचे के भाग कुछ भर-से जाते हैं। सिर प्रायः एक ओर झुक जाता है। यदि दोनों भुजाएँ फैलाई जायँ तो वे सीधी-सीधी नहीं फैलतीं, प्रायः बाईं भुजा कुछ नीची रहती है। यदि हाथ इस प्रकार फैलाया जाय कि हथेली नीचे की ओर रहे तो प्रायः देखा जाता है कि अँगूठा अच्छी तरह नहीं फैलता, किंतु हथेली की ओर नीचे को झुका रहता है।

जिन विषयों में मनलगन नहीं होती उन्हीं विषयों में थकावट भी अधिक आती है, या जिन बातों से मनलगन में बाधा होती है उन्हीं बातों की विद्यमानता में थकावट अधिक आती है, जैसे विषय का न समझना, शरीर में किसी प्रकार के कष्ट का होना, भूख-प्यास आदि अथवा आवश्यक वस्त्रों का अभाव, अशुद्ध वायु, अधिक सर्दी या अधिक गर्मी का होना, प्रकाश में कमी, अन्य किसी चित्ताकर्षक बात की विद्यमानता, आदि। यदि अध्यापक को मालूम हो कि थोड़ा ही काम करने पर बच्चों में थकावट के चिह्न प्रतीत होने लगें, तो उसे ऐसी थकावट का कारण ढूँढ़ना चाहिए, और जहाँ तक हो सके उसके दूर करने का उपाय करना चाहिए। स्मरण रहे कि थकावट का निवारण किसी अध्यापक

के हाथ में नहीं है, वह उसे केवल टाल सकता है। निवारण का एक उपाय है विश्राम या आराम।

अब देखना चाहिए कि विश्राम क्या वस्तु है। विश्राम का अर्थ है कि जिस अंग-विशेष से बहुत देर तक काम लिया गया है उससे काम न लेना, या यदि शरीर-भर में थकावट आ गई है तो शरीर-भर से कोई कठिन काम न लेना। इससे स्पष्ट हुआ कि विश्राम दो प्रकार से दिया जा सकता है, एक तो विषय बदल देने से और दूसरा काम बंद कर देने से। दोनों प्रकार के विश्रामों का प्रबंध स्कूल में होना चाहिए।

विषय बदलने का प्रबंध स्कूल में समय-सूची (टाइम-टेबुल) बनाते समय करना चाहिए। पाठ्य विषयों का क्रम इस प्रकार रखना चाहिए कि पहले घंटे के काम में जिन शरीर-अवयवों पर बोझा पड़ता है उन्हीं पर दूसरे घंटे के काम में न पड़े, और दूसरे घंटे के काम में जिन अंगों पर ज़ोर पड़ता है उन पर तीसरे घंटे के काम में ज़ोर न पड़े। जैसे पहले घंटे में गणित पढ़ाया जाय तो दूसरे में नक़ल करना या कापी लिखना सिखाया जाय। गणित में सोचना अधिक पड़ता है, और मस्तिष्क पर ज़ोर पड़ता है। कापी लिखने में मस्तिष्क को अधिक काम करना नहीं पड़ता, और इसी अवकाश में उसे विश्राम का मौक़ा मिल जाता है। पढ़ने और लिखने में आँखों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है, इसलिये पढ़ाई या लिखाई के घंटे के पश्चात् कोई ऐसा काम रखना चाहिए जिसमें आँखों पर ज़ोर न पड़े, जैसे ऐतिहासिक कहानी का सुनाना।

विषय-परिवर्तन की भी सीमा है। ऐसा परिवर्तन करने पर भी शनैः-शनैः संपूर्ण शरीर में थकावट आ जाती है, और पूर्ण विश्राम करने की आवश्यकता होती है। सबसे उत्तम विश्राम तो सोना है परंतु स्कूल में सोने का प्रबंध नहीं हो सकता, इसलिये उसके बदले काम

बंद कर दिया जाता है । स्कूल खुलने से बंद होने के समय तक बीच में कम-से-कम एक बार आध घंटे या पौन घंटे के लिये या दो बार बीस-बीस मिनट के लिये बच्चों को छुट्टी देना चाहिए। इस छुट्टी में बच्चे दर्जे में बैठें नहीं, किंतु इधर-उधर चलें, फिरें, खेलें, जल-पान आदि करें। ऐसा करने से साथ-ही-साथ दर्जे के कमरों की वायु भी शुद्ध हो जाती है ।

बच्चों के घर का रहन-सहन अध्यापक के हाथ में नहीं है, तथापि उसे इस बात का उद्योग करना चाहिए कि बच्चों को घर के लिये अधिक काम न दिया जाय, उन्हें सोने के लिये पूरा समय मिले । यदि अध्यापक को मालूम हो जाय कि किसी बच्चे को स्वास्थ्य-सूचक गहरी निद्रा नहीं पड़ती तो उसे चाहिए कि बच्चे के पिता या संरक्षक को इस बात का महत्त्व बतलाकर उचित उपाय करावें ।

समाप्त

परिशिष्ट

[अकारादि क्रम से पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका और उनका अँगरेज़ी-अनुवाद]

अंक-गणित—Arithmetic.

अंतःकरण—The internal organs.

अंतःक्षोभ—Emotion.

अंतर्बोध—Apperception mass.

अनात्मवाद—The theory of there being no Soul ; materialism.

अनुकरण—Imitation ; imitative instinct.

अनुभव—Experience ; experiment.

अनुमान—Inference.

अनैच्छिक—Involuntary, automatic.

अप्रयास—Involuntary, without effort.

अभ्यास—Practice ; habit.

अवधान—Attention.

अव्यवधानता—Contiguity, non-intervention.

अहंकार—The feeling of the Self.

आगमन—Induction ; inductive inference.

आज्ञा-तंतु—Motor nerves, efferent nerves.

आत्मवाद—The theory of Soul ; Theism.

आत्मसंयमन—Self-control.

आत्मा—Soul, Spirit, Self, Ego.
आंतरिक— Internal.
आदर्श—Ideal.
इच्छा—Wish, will, volition.
इंद्रिय—Sense-organ.
ईर्ष्या—Envy.
ईश्वर—God, the Supreme Soul.
एकाग्रता—Concentration (of the Mind.)
ऐच्छिक—Voluntary.
कर्म-इंद्रिय—An organ of action.
कारण—Cause, motive.
कार्य—Effect, consequence.
कुतूहल—Curiosity.
केंद्र—Centre, focus
कोठरी (स्नायु)—A nerve-cell.
क्रोध—Anger.
क्षोभ— Feeling, emotion.
चरित्र—Character.
चित्त—Mind ; in Hindu books distinguished from मन, but used for मन in the present book.
चित्त-वृत्ति—State or field of Consciousness.
चेतना—Consciousness.
चेतना-प्रवाह—The Stream of Consciousness.
चेष्टा—Action.
जन्म—Birth.

जिज्ञासा—Curiosity, desire toward better cognition.
जीव—Soul, Spirit.
ज्ञान—Knowledge, knowing.
ज्ञान-इंद्रिय— A sense-organ.
ज्ञान-तंतु—Sensory nerve, afferent nerve.
तत्त्व—The truth, elementary truth, essence.
तत्त्वज्ञान—Realization of the Eternal Truth.
तंतु—Nerve, a nerve fibre.
तर्क—Reasoning.
तुलना—Comparison and contrast.
तोता-रटन—Cramming.
दोहराना—Repetition
धैर्य—Patience, perseverance.
ध्यान—Attention.
नवीनता—Recency.
नास्तिक—A materialist, an atheist.
निगमन—Deduction.
निरुद्ध निर्णय—Impeded judgment.
निर्णय—Judgment.
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान—Sensation.
निश्चय—Decision.
परिस्थिति—Environment.
प्रकृति—Nature ; natural tendency.
प्रकृति-निरीक्षण—Nature-Study.
प्रत्यक्ष—Knowledge derived through senses.

प्रबलता—Strength, vividness.
प्रयास—Effort.
प्रयोग—Use, experiment.
प्राकृतिक—Natural.
प्राकृतिक चेष्टा—Naturae re-action.
प्राकृतिक शक्ति—Instinct.
प्राणिशास्त्र—Biology.
प्राणी—Animal.
प्रेम—Love.
बाल-निरीक्षण—Child-study.
बाह्य संसार —The external world, periphery.
बुद्धि—Intellect.
भय—Fear.
भाव—Idea, notion, thought, purport.
भावना—Imagination, fancy.
भाव-सामंजस्य—Emotional Congruity.
भूरे रंग की चीज़—Gray matter of the brain.
भौतिक—Physical, relating to matter.
मन—Mind.
मनःशास्त्र, मनोविज्ञान —Science of the Mind, Psychology.
मनोवृत्ति—State or field of Consciousness.
ममता—Ownership.
मस्तिष्क—Brain.
मानसिक—Mental, psychic.
मिलान—Comparison.

राशीकरण—Classification, arranging under 'heads'.
रुचि—Interest.
विकास—Development, growth.
विचार—Idea, notion, thought, thinking.
विचार-संबंध—Association of Ideas.
विज्ञान—Science.
विज्ञानवेत्ता—Scientist.
विधायकता—Constructiveness.
विपरीतता—Opposition, reverse.
विरोध—Opposition, Struggle for supremacy.
विस्मृति—Forgetfulness, oblivion.
वृत्ति—State of consciousness; condition.
वैधर्म्य—Opposition, heterogeneity.
व्यवसाय—Volition, will ; action ; trade.
व्यवसायात्मिका बुद्धि—Volition, will.
व्याकरण—Grammar.
व्यापक पूर्वावयव—Major Premise of a Syllogism.
व्याप्य पूर्वावयव—Minor Premise of a Syllogism.
शरीर—Body, physique.
शरीर-शास्त्र—Physiology.
शक्ति—Faculty, power.
शास्त्र—A Science, Scripture.
शिक्षा-शास्त्र—Pedagogy.
संकेंद्रण—Concentration or focussing (of the Mind.)

सदाचार—Morality.
सप्रयास—Voluntary; with effort.
सफ़ेद रंग की चीज़—White Matter of the brain.
समानता—Similarity.
समानाधिकरण—Co-ordination (of subject.)
सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान—Perception : percept.
सादृश्य—Similarity.
सामंजस्य—Congruity.
सामान्य-प्रत्यय—Conception ; concept.
साहस—Courage : rashness.
साहसिक निर्णय—Impulsive judgment.
स्तंभन—Retention.
स्नायु—Nerve.
स्नायुजाल—Nervous system.
स्नायु-तंतु—Nervous fibre.
स्पर्धा—Emulation, rivalry.
स्मरण } —Memory.
स्मृति
स्मृतिप्रेरक शब्द—Mnemonics.
स्वतःसिद्ध काम—Reflex action.
स्वत्व—Ownership.
स्वभाव—Natural tendency, habit.
स्वाभाविक— Natural, habitual.
स्वाभाविक निर्णय—Intuitive judgment.